रक्तबिन्दु कहे गये हैं, पर यह सब भी चिदानन्दमय ही हैं, दिव्य हैं। *'सकल सौच'* से बाह्यशुद्धि कही। आगे *'नित्य निबाहि'* से अन्तर—(अन्तःकरणकी, भीतरकी) शुद्धि कहते हैं।] (ख) *'जाइ'* से सूचित होता है कि बाहर नदीस्नान करने गये। नदीस्नान उत्तम माना गया है। [यथा **'प्रवाहे शतधेनुश्च तटाके दशधेनुकम्। कूपे वाप्यामेकधेनुर्गृहे स्नानं तु केवलम्॥ गृहाद्दशगुणं कूपं कूपाद्दशगुणं तटम्। तटाद्दशगुणं नद्यां गङ्गासंख्या न विद्यते॥'** (श्रीरामपटल) अर्थात् नदीमें स्नानसे सौ गोदानका, तड़ागमें स्नानसे दस गौका, कूप अथवा बावलीमें स्नानसे एक गौका फल होता है और घरमें स्नान करनेसे केवल शुद्धि होती है, फल नहीं होता। (ऐसा शास्त्र कहता है और अत्रिस्मृतिमें कहा है कि) घरसे दसगुणा फल कूपपर, कूपसे दसगुणा तड़ागमें, तड़ागसे दसगुणा नदीस्नानमें होता है। गङ्गाजीमें स्नानके फलकी संख्या नहीं कह सकते।] (ग) *'मुनिहि सिर नाए'* इति। गुरुको शौचादिसे निवृत्त होकर प्रणाम करना, यह भी 'नित्यक्रिया' मेंसे एक है, यथा—*'प्रातकाल उठिकै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥'* (२०५। ७)

टिप्पणी—२ (क) *'समय जानि'* इति। समय जानकर आज्ञा माँगी, क्योंकि उसका समय न होनेसे आज्ञा न मिलती। [*'लेन प्रसून'* के साहचर्यसे *'समय जानि'* का भाव यह होगा कि गुरुजीकी पूजामें प्रातःकाल दल-फूलकी आवश्यकता होती है, इसलिये फूल लाने वा पूजनका समय निकट जानकर चले, जिसमें पूजाके समयतक दल-फूल लाकर उपस्थित कर दें। *'समय जानि'* के सम्बन्धमें रसिक महानुभावोंने बहुत-से भाव लिखे हैं जिनमेंसे कुछ ये हैं—(१) समय=संकेत। यथा—**'समयः शपथाचारसिद्धान्तेषु तथाविधि। क्रियाकारे च निर्देशे संकेते कालभाषयोः॥'**(इति मेदिनी) भाव यह कि जैसे नगरदर्शनकी लालसा श्रीलक्ष्मणजीके मनकी जानकर गुरुकी आज्ञा पाकर गये थे, यथा *'राम अनुज मनकी गति जानी।''''' जौ राउर आयसु मैं पावउँ। नगर देखाइ तुरत लै आवउँ॥'* (२१८। ३—६) वैसे ही श्रीमज्जानकीजीके पुष्पवाटिकामें आनेका संकेत जान गुरुकी आज्ञा पा सुमनके बहाने चले। (मा० त० वि०) अथवा, (२) नगरदर्शन-समय सखियोंके परस्पर संवादमें सिद्धान्त-ऐश्वर्यसूचक वचन सुने थे, फिर सबोंने उस वचनपर विश्वास करके सुमनकी वृष्टि की थी; यथा—*'सखि इन्ह कहँ कोउ कोउ अस कहहीं। बड़ प्रभाउ देखत लघु अहहीं। ''''तासु बचन सुनि सब हरषानी। ऐसेइ होउ कहहिं मृदु बानी॥ हिय हरषहिं बरषहिं सुमन''* (२२३)—इस सुमनवृष्टिमें आभ्यन्तरीय यह संकेत था कि यदि ये बड़े प्रभाववाले हैं तो सुमनके बहाने पुष्पवाटिकामें जाकर प्रथम मानसिक स्वयंवर करेंगे, फिर धनुर्भंगके लिये उद्यत होंगे (मा० त० वि०) अथवा, (३) दर्शनीय वस्तुओंके देखनेके लिये राजाओंका समय बँधा रहता है। पुष्पवाटिकाके दर्शनार्थ दरवाजा खुलनेका समय आ पहुँचा, यह जानकर (मा० त० वि०) अथवा, (४) श्रीसरकारके गुप्त-प्रकट सब चरित्र अपने-अपने अवसरोंपर हुआ करते हैं। उसीके अनुसार लीलापरिकरोंका प्राकट्य होता है। यथा—**'स्वैर्लीलापरिकरैर्जनैर्दृश्यानि नापरैः। तत्तल्लीलाद्यवसरे प्रादुर्भावोचितानि हि॥'** (भागवतामृतकर्णिका) पुष्पवाटिका-चरित्रका यही समय है, यह जानकर प्रसून ले आनेकी आज्ञासे इस चरित्रको प्रारम्भ किया (मा० त० वि०) अथवा, (५) सखियोंकी पुष्पवृष्टिक्रियासे बागमें मिलनेका संकेत पा प्रभुने बालकोंसे पूछा तो उन्होंने बताया कि यामभर दिन चढ़े श्रीकिशोरीजी गिरिजापूजनको जाती हैं, यह समय जानकर (वै०) अथवा, (६) मुनिने अबतक कभी कहीं जानेकी आज्ञा (अपनेसे) नहीं दी थी, आज प्रथम-प्रथम पुष्पवाटिकासे फूल लानेकी आज्ञा दी। इस आज्ञामें क्या सिद्धान्त है यह जानकर चले। अर्थात् मुनिने जो श्रीदशरथमहाराजसे कहा था—*'इन कहँ अति कल्यान॥'* (२०७) न जाने उसीका समय आ गया, अतः शीघ्र चल दिये (मा० त० वि०) पर इसपर आगे पं० रामकुमारजीकी टिप्पणी ३ और नोट २ (ख) देखिये। पं० रामचरण मिश्रका मत है कि 'फूल लेने एवं गिरिजापूजनका समय' ये दोनों भाव मुनि और श्रीरामजी दोनोंके जाननेमें घटित होते हैं।] (ख) यदि संध्या-समयमें बाग देखने जाते तो केवल बाग देखना होता। प्रातःसमय जानेसे दोनों काम हुए, बाग-दर्शन और गुरुसेवा।

टिप्पणी—३ *'गुर आयेसु पाई'* इति। (क) *'पाई'* से पाया जाता है कि श्रीरामजीने गुरुसे पूजाके

लिये फूल ले आनेकी आज्ञा माँगी और उन्होंने जब आज्ञा दे दी तब गये। (ख)समय जानना यहाँ श्रीरामजीका है और आज्ञा देना गुरुका कहा गया है। यदि गुरुका स्वयं समय जानकर आज्ञा देना कहना होता तो लिखते कि *'समय जानि गुर आयसु दीन्हा।'* [(ग) गुरुको कहना न पड़ा, उन्होंने स्वयं जाकर गुरुसे आज्ञा ली। यह उत्तम सेवक-धर्म है। (प्र० सं०)]

नोट—१ *'लेन प्रसून चले दोउ भाई'* इति। (क) 'प्रसून' का सीधा और प्रसंगानुकूल अर्थ 'फूल' ही है। बैजनाथजी एक अर्थ यह लिखते हैं कि 'प्रसून=सुमन=सुन्दर मन। इस तरह 'प्रसून लेने चले' का भाव यह है कि सखियोंसहित श्रीजनककिशोरीजीका सुन्दर मन हर लेनेको चले।' भाव यह कि कल पुरवासियोंके मन हरे थे, आज अन्तःपुरवासियोंके मन हरने चले। (रा० प्र०) (ख) *'दोउ भाई'*—दोनों भाई गये क्योंकि लक्ष्मणजी श्रीरामजीको अकेले नहीं छोड़ते। अथवा, ☞पूजामें फूल बहुत लगते हैं अतः दोनों भाई गये। (वि० त्रि०)

नोट —२ श्रीलमगोड़ाजी—(क) *'समय जानि'''चले'* इति। पुरुषमें activity फुर्ती की प्रधानता होती है और स्त्रीमें Passivity की। देखिये श्रीरामजी स्वयं गुरुपूजन (गुरुके पूजा) का समय जानकर गुरुसे आज्ञा लेकर फूल लेने जाते हैं। पर सीताजीके लिये कविने लिखा है कि *'गिरिजा पूजन जननि पठाई।'* [गिरिजा, गौरीका पूजन प्रायः विवाह और सुहागके लिये होता है; इसलिये यह काम अपनेसे करनेमें कन्याएँ लज्जा मानती हैं। इससे भी माताका गौरीपूजनके लिये भेजना वहाँ उचित ही है और यहाँ स्वयं आज्ञा लेकर जानेमें ही प्रशंसा है, औचित्य है।]

(ख) *'लेन प्रसून'* स्पष्ट बता रहा है कि कोई कृत्रिम गुप्त मुलाकात (जैसा कि ऊपर टि० २ (क) के (१), (२), (५) में महानुभावोंके भावोंसे प्रकट होता है) के समय इत्यादिके अमर्यादित शृङ्गारका भाव नहीं है। सरल राजकुँवर फूल लेने गये थे। हाँ! *'सो सब कारन जान बिधाता।'* (२३१। ४) वाली बात ही और है कि सृष्टिकर्ताका विधान 'संयोग' की रचना कर रहा था। श्रीसीताजी भी गिरिजापूजनरूपी कार्यके लिये गयी थीं। इस प्रकार दोनों ओर धार्मिक उद्देश्य थे जो शृङ्गारको मर्यादित किये रहेंगे। *'दोउ भाई'* इधर और *'सखी लै आईं'* उधर। (२३१। २) और भी पुष्टि इस बातकी कर देते हैं कि कोई और बात नहीं है।

**भूप बागु बर देखेउ जाई। जहँ बसंत रितु रही लोभाई॥ ३॥**
**लागे बिटप मनोहर नाना। बरन बरन बर बेलि बिताना॥ ४॥**

अर्थ—(उन्होंने) जाकर राजाका श्रेष्ठ बाग देखा, जहाँ वसन्त-ऋतु लुभाकर रह गयी है॥ ३॥ अनेक प्रकारके मन हर लेनेवाले सुन्दर वृक्ष लगे हैं। रंग-बिरंगकी सुन्दर श्रेष्ठ बेलोंके वितान (अर्थात् लताभवन बने हुए) हैं॥ ४॥

*'भूप बागु बर'* के भाव

पं० रामकुमारजी—*'भूप बागु'* कहकर बागका नाम जनाया कि इस बागका नाम 'भूपबाग' है। (जैसे राजद्वार, राजमहल इत्यादि वैसे ही 'भूपबाग' अर्थात् 'राजबाग'।) *'बर'* का भाव कि राजा जनकके और भी बाग हैं पर यह बाग सबसे श्रेष्ठ है।

श्रीलमगोड़ाजी—(क) भाषाके मर्मज्ञोंका कहना है कि कोई दो शब्द बिलकुल एक अर्थके नहीं होते, कुछ-न-कुछ अन्तर अवश्य होता है। हम समझते हैं कि 'भूप' और 'नृप' समान अर्थ प्रकट करते हैं, किंतु तुलसीदास-जैसे सावधान कवि ऐसा नहीं समझते। देखिये, भूप=पृथ्वीका मालिक। यहाँ बागकी चर्चा है, इसलिये यहाँ यह शब्द कितना सुन्दर है। पृथ्वीमाताके उदरसे ही तो बागका जन्म है। आगे श्रीराम-लक्ष्मणजीकी चर्चा होगी तब 'नृप'—बालक लिखेंगे। यथा—*'एक कहइ नृप सुत तेइ आली।'* (२२९। ४) *'कहँ गए नृप किसोर मनु चिंता।'* (२३२। १) अर्थात् नरपतिके बालक। नृपनय (Political Science)

के ज्ञाताओंके लिये यह विचारणीय है कि जनकपुरमें Territorial Theory of Sovereignty प्रधान थी। वहाँका राजा भूपति होता था, इसीसे तो पहले जनक महाराजका 'हल चलाना' शुभ समझा जाता था। और, श्रीअयोध्याजीमें Personal Theory of Sovereignty प्रधान थी इससे वहाँका राजा नृप कहा जाता था। यही बात King of England और King or Queen of Scotts में अन्तररूपसे अंग्रेजी पढ़नेवाले जानते ही हैं। 'प्रधान' शब्द मैंने इसलिये लिखा कि जिसमें बहुत खींचातानी न की जाय। (ख) *'बागु बर'* का अर्थ सरल है। फिर भी संकेतकलाका प्रयोग विचारणीय है। *'बर'* दुलहको कहते हैं और आगे बागमें *'बागु बर'* और *'बसंत रितु'* दुलहिनका ब्याह भी रचा है। फिर श्रीसीतारामजीका ब्याह भी होना ही है। उर्दूमें यह कला 'नसीम' में उत्तम है, पर इतनी सरल नहीं है।

प० प० प्र०—लमगोड़ाजीने जो लिखा है कि 'जनकपुरमें Territorial Theory of Sovereignty प्रधान थी···' वह ठीक नहीं है, क्योंकि श्रीदशरथजीको भी भूप, भूपति कहा है और जनकजीको नृप भी अनेक बार कहा है। यथा—*'देखन नगर भूपसुत आए।'* (२२०। १)*'एक बार भूपति मन माहीं। भइ गलानि मोरें सुत नाहीं॥', गए भूप दरबार।'* (१। २०६)*'देहु भूप मन हरषित····॥'* (२०७) *'सौंपे भूप रिषिहि सुत····॥'* (२०८) इत्यादि; *'कह मुनि बिहसि कहेहु नृप नीका।'* (२१६। ६) *'भलि रचना मुनि नृप सन कहेऊ।'* (२४४। ८) इत्यादि दोनोंके लिये 'नरेश', 'नरनाथ', 'भुआल' और 'राउ' आदिका भी प्रयोग हुआ है।

'बर' विशेषण 'बाग' और 'भूप' दोनोंका है और पृथक् भी है। 'बर भूप'=श्रेष्ठ राजा। राजाओंमें श्रेष्ठ जो श्रीजनक महाराज हैं। 'भूप' को 'बर' इससे कहा कि उनको पृथ्वीने अपना सच्चा पति ('भू-पति') समझकर उनको कन्या दी। (पां०) पृथ्वीके श्रेष्ठ पति हैं क्योंकि पृथ्वीसे कन्या इन्होंने उत्पन्न की। यथा—*'देखे सुने भूपति अनेक झूठे झूठे नाम साँचे तिरहुतिनाथ साखि देति मही है।'* (गी० १। ८५। ५) (ग) पुनः, भूप बाग बर=श्रेष्ठ बागों (अर्थात् देवताओंके चैत्ररथ आदि उत्तम बागों) का राजा। (पां०, रा० प०) वा, बर=बड़ा। (रा० प्र०)

मा० त० वि० (क) *'बर बागु'* अर्थात् योग-विभूतिका बाग। भाव यह कि राजा जनकके योगबलसे यहाँ त्रिपाद्विभूतिका गम (प्रवेश वा आविर्भाव) हो रहा है। जनकजी योगी याज्ञवल्क्यजीके शिष्य हैं। गीतावलीमें भी कहा है—*'रागऊ बिराग भोग जोग जोगवत, जोगी जागबलिक प्रसाद सिद्धि लही है।'* (१। ८५। ३) (ख) 'भू' आधारशक्ति। प=पतीक्ष्णा। (मात्रिकाकोशे) भूप=जहाँ भू-शक्ति पतीक्ष्णारूप है और अर्थात् नित्य निकुञ्ज नित्य विहारका। (बाग जो अशोकवनिका संज्ञक है।) (मा० त० वि० ने इसी प्रकारके और भी भाव दिये हैं।)

टिप्पणी—१ (क) *'देखेउ जाई'* से जनाया कि इसके देखनेकी इच्छा थी, सो जाकर देखा। *'लेन प्रसून चले दोउ भाई'* कहकर तुरत *'भूप बाग बर देखेउ जाई'* कहनेसे सूचित हुआ कि बहुत शीघ्र गये। इसीसे बीचमें और कुछ वर्णन नहीं किया गया। (ख) *'जहँ बसंत रितु रही लोभाई'* इति। अर्थात् जहाँ वसन्त-ऋतुका धर्म बारहों मास बना रहता है, जैसा आगे कहते हैं—*'नव पल्लव फल सुमन सुहाए'*। लताएँ और वृक्ष वसंतमें पुष्पित होते हैं, यथा—*'लता ललित बहु जाति सुहाई। फूलहिं सदा बसंत की नाई॥'* (७। २८। २) (ग) इस बागमें ऋतुराज मानो सेनासमेत उतरा है। सेना आगे कहते हैं। जैसे सब राजा बाहर वन-बागादिमें उतरे हैं, वैसे ही ऋतुराज वसंत बागमें बसा है। राजा सर-सरितके समीप उतरे, वैसे ही वसंत बागके सरके समीप उतरा है। (घ) वसन्त पुँलिङ्ग है और ऋतु स्त्रीलिङ्ग है। वसन्त कामका सहायक है और कामको स्त्रीका बल है, यथा—*'एहि कें एक परम बल नारी।'* (३। ३८। १२) इस बागमें शृङ्गारका वर्णन है, इसीसे 'वसन्त' के साथ 'ऋतु' शब्द बढ़ाकर वसन्तको स्त्रीलिङ्ग बनाकर कहा। 'वसन्त-रितु' स्त्रीलिङ्ग है। [(ङ) स्त्रीलिङ्ग क्रियाका प्रयोग इसलिये किया गया कि यहाँ श्रीकिशोरीजी नित्य आया करती हैं। यहाँ पुरुषको आनेकी आज्ञा नहीं है। अतः वसन्तने मानो स्त्रीका रूप-वेष धारण कर लिया, जिसमें यहाँ रहने पावे। अथवा परम नायक पुरुषोत्तम श्रीरामजीकी अवाई (अगवानी तथा

आगमन) में वसन्त भी सखी-समाजमें आनन्द लूटनेको नायिका-रूप हो गया। (रा० च० मिश्र) (च) *'रही लोभाई'* अर्थात् और स्थानोंको छोड़कर यहीं निवास कर लिया है। (मा० त० वि०) इससे जनाया कि यहाँ मानरहित पड़ी रहती है। (छ) वसन्त-ऋतु लुभाकर रह गयी। भाव यह कि इस समय शरद्-ऋतु है, शरद्में भी वसन्त दिखायी पड़ रहा है, इससे सिद्ध है कि यहाँ सभी ऋतुओंमें वसन्तकी शोभा रहती है। अथवा पावस और हेमन्तका मध्यवर्ती शरद् और शिशिर-ग्रीष्मका मध्यवर्ती वसन्त भी वर्तमान है, इस तरह षट्-ऋतुओंकी शोभा सदा बनी रहती है। (वै०)]

श्रीलमगोड़ाजी—संसारके बहुत कवियोंने 'सदा बहार' के विचार लिखे हैं; परन्तु किसीने इस सुन्दरता और सजीवितासे उसका कारण नहीं बताया। हमारे पूज्य कविका आशय यह है कि आयी तो वसन्त अपने समयपर थी, पर मुग्ध होकर रह गयी और इस समय शरद्-ऋतुमें मौजूद है। (राजाओंके बागमें विशेष उद्योगोंद्वारा यह ठीक ही है कि वसन्तकी-सी बहार सदा बनी रहती है।)

नोट—वसन्तके साज, सेना, शोभा आदिका वर्णन (३। ३७। ३८) में और (१। १२६। १। ६) में देखिये। *'रही लोभाई'* कहकर बागकी अतिशय बड़ाई प्रदर्शित करना 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलङ्कार' है। जब स्वयं वसन्त-ऋतु ही लुभा गयी तब मनुष्योंकी क्या कही जाय।

टिप्पणी—२*'लागे बिटप मनोहर नाना…'* इति। (क) *'लागे बिटप'*—यह बाग है, इसीसे प्रथम वृक्षोंका वर्णन करते हैं। बागमें वृक्षोंकी ही प्रधानता रहती है। मनोहर और नाना कहकर जनाया कि सब वृक्ष अपूर्व हैं, खोज-खोजकर यहाँ लगाये गये हैं और ऐसे ही रंग-विरंगकी उत्तम-उत्तम बेलें लगायी गयी हैं, वितान बनाये गये हैं। (ख) पहले बागको श्रेष्ठ कहा—*'बागु बर'*। अब उसकी श्रेष्ठता दिखाते हैं। *'लागे बिटप मनोहर…'* यह बागकी श्रेष्ठता है। (ग) मनोहर है, इसीसे उसने दोनों भाइयोंके मनको हर लिया; यथा—*'बागु तड़ाग बिलोकि प्रभु हरषे बंधु समेत।'* (२२७) (घ) *'बिटप'* को कहकर पीछे लताओंका वर्णन किया। इससे सूचित किया कि वृक्षोंपर लताएँ चढ़-चढ़कर उलझ गयी हैं, वही मानो वितान तने हैं; यथा—*'बिटप बिसाल लता अरुझानी। बिबिध बितान दिये जनु तानी॥'* (३। ३८। १) (बेलें जब वृक्षोंपर फैलती हैं तब वे वितान-सरीखी देख पड़ती हैं।)

नोट—१ *'मनोहर नाना'* देहली दीपक है। नाना मनोहर विटप हैं और नाना मनोहर रंग-विरंगकी बेलें और चँदोवे हैं। *'नाना मनोहर बिटप'* का भाव कि बागका एक-एक वृक्ष मनको हर लेता है और यहाँ तो ऐसे विटप अनेक हैं। रंग-रंगके वृक्ष, हैं जिस बागमें ऐसे नाना प्रकारके वृक्ष होंगे वहाँ वसन्त-ऋतु क्यों न लुभा जायगी? जिस वृक्षपर जिस रंगकी बेलि शोभित होती है वही उसपर छा रही है; जैसे कालेपर लाल, श्वेतपर काली, पीतपर हरी इत्यादि। [नाना रंगोंके वृक्षोंपर उन्हींके अनुकूल रंग-विरंगकी बेलें उनपर छायी हैं, जैसे चम्पापर विष्णुकान्ता, चाँदनीपर इश्कपेच, आम्रपर कुन्द, तमालपर हेमलता इत्यादि, क्यारी-क्यारीके बीच एक-एक रंग, इस प्रकार भाँति-भाँतिके अनेकों कुञ्ज बने हैं। (वै०)] यहाँ शृङ्गाररसकी अधिकता शान्तरसके भीतर कही है। शृङ्गारके समय नायिका नायकपर प्रबल रहती है, वैसे ही यहाँ बेलिरूपी नायिका विटपरूपी नायकपर लिपट गयी है, नायिकाने नायकको लपेट लिया है। (पां०। प्र० सं०) *'बर'* विशेषण दिया क्योंकि इनके नीचे नाना चरित्र होने हैं। (मा० त० वि०)

नोट—२*'मनोहर नाना…बेलि बिताना'* के और भाव ये हैं—(क) बागमें जो विटप लगे हैं वे विटप नहीं हैं, किन्तु *'मनो'* (मानो) *'हर'* हैं जो अनेक रूपसे यहाँ विराजमान हैं। इसमें आश्चर्य ही क्या? क्योंकि यह गिरिजा-बाग है। [अथवा श्रीराम-रस-माधुर्य-हेतु यहाँ स्थित हैं। (वै०)] *'बरन बरन बर बेलि बिताना'* अर्थात् बेलोंसे वितान (वा बेलोंके वितान) कहते हैं कि *'बर'* वृक्षरूप शिवका यश वर्णन करो! (रा० प्र) अथवा (ख) बागको श्रेष्ठ बागोंका राजा कहा है, उसके अनुकूल यहाँ यह अर्थ व्यञ्जित होता है कि राजाओंके चँदोवा, तंबू आदि होता है, सो सब यहाँ लता-वितान हैं। (रा० प्र०)

**नव पल्लव फल सुमन सुहाए। निज संपति सुररूख लजाए॥ ५॥**
**चातक कोकिल कीर चकोरा। कूजत बिहग नटत कल मोरा॥ ६॥**

शब्दार्थ—**पल्लव**=पत्ते, कोंपल। **संपति**=धन, ऐश्वर्य। **रूख** (प्रा० रुक्ख)=वृक्ष। यथा-*'रूख कलपतरु सागर खारा। तेहि पठए बन राजकुमारा॥'*(२। ११९। ४) **नटत**=नाचता है। **लजाना**=लज्जित करना।

अर्थ—नवीन (नये-नये) सुहावने पल्लव, फल और फूल (रूपी) निज संपत्तिसे कल्पवृक्षको लज्जित कर दिया है॥ ५॥ चातक (पपीहा), कोयल, तोते और चकोर आदि पक्षी बोल रहे हैं, सुन्दर मोर नाच रहे हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'नव पल्लव फल सुमन सुहाए।'"* इति। [(क) *'नव'* और *'सुहाए'* पल्लव, फल और सुमन तीनोंके विशेषण हैं। *'नव'* का दूसरा अर्थ है—'नम्र हो गये वा झुक गये हैं। वा, नम्र, झुके हुए।' इस तरह अर्थ होगा—सुन्दर पत्तों, फल और फूलोंसे वृक्षकी शाखाएँ झुकी हुई हैं। वा, 'पल्लव, फल और फूलके भारसे झुके हुए सुहावने लगते हैं। (पां०, रा० प्र०)] (ख) पल्लव, फल और सुमन तीनोंको कहकर सूचित किया कि इस राजबागमें उपवन, बाग और वन तीनों हैं। यथा—*'भूप बागु बर देखेउ जाई'* (यहाँ बाग कहा), *'परम रम्य आरामु एहु जो रामहि सुख देत।'* (२२७) (यहाँ उपवन कहा। **आरामु**=उपवन, यथा **'आरामः स्यादुपवनं कृत्रिमवनमेव तत्।'**(अमर० २। ४। २) और, *'एक सखी सिय संगु बिहाई। गई रही देखन फुलवाई॥'* (२२८। ७) तथा *'करत प्रकासु फिरहि फुलवाई।'* (२३१। २) (यहाँ वाटिका कहा।) (ग) वाटिका फूलती है, बाग फलते हैं और उपवन पल्लवित होते हैं। यथा—*'सुमन बाटिका बाग बन बिपुल बिहंग निवास। फूलत फलत सुपल्लवत सोहत पुर चहुँ पास॥'* (२१२) *'सुंदर उपबन देखन गए। सब तरु कुसुमित पल्लव नए॥'* (७। ३२। २) ☞इसीसे यह बाग पार्क (Park) की तरहका था, जिसमें *'देखन मिस मृग बिहग तरु फिरै बहोरि बहोरि।'* (२३४) की गुंजाइश समायी थी। (लमगोड़ाजी)

नोट—१ (क) 'नव' संख्याकी हद है। *'नव पल्लव'* कहकर शोभा-सुन्दरताकी अवधि पल्लव जनाये। (रा० प्र०) वास्तवमें वसन्तका यहाँ लुब्ध होकर रहना कहा है। वसन्तमें नवीन कोंपलें निकलती हैं, वही भाव यहाँ *'नव'* का है। (ख) बैजनाथजी लिखते हैं कि यहाँ शृङ्गाररस-वर्णन करेंगे, उसमें प्रथम उद्दीपन विभाव कह रहे हैं। बाग-तड़ागकी शोभा उद्दीपन विभाव है जो रसका बीज है। इसे देखकर अनुभावरूप शृङ्गाररस उत्पन्न हुआ, इसीसे आगे *'जो रामहि सुख देत'* कहा है। बागमें आज श्रीजनकनन्दिनी-रघुनन्दन-मिलापका प्रथम दिन है। वात्सल्य, सख्य, दासादि भाववालोंको प्रसिद्ध देखनेका अधिकार नहीं है, पर उनको भी देखनेकी अभिलाषा है; इसलिये वे वृक्ष, गुल्म, लता आदिके शाखा, पल्लव, फल-फूलादिके रूपमें आ विराजे हैं। ये सब श्रीरामप्रेमरसके भरे रसीले हैं। इसीसे सबको *'सुहाए'* कहा।

टिप्पणी—२ *'निज संपति सुररूख लजाए।'* इति। (क) वृक्षोंकी सम्पत्ति फल, फूल, पत्ते हैं; यथा—*'फल भारन नमि बिटप सब रहे भूमि नियराइ। पर उपकारी पुरुष जिमि नवहिं सुसंपति पाइ॥'* (३। ४०) (पत्ते, फूल और फल तीनों एक साथ वृक्षोंमें हैं यह विलक्षणता है।), दूसरे यहाँ श्रीराम-जानकीजी आये हैं; यह सौभाग्य कल्पवृक्षको कहाँ नसीब? उसके यह भाग्य कहाँ ? इसीसे वह लज्जित है। यथा—*'जेहि तरु तर प्रभु बैठहिं जाई। करहिं कलपतरु तासु बड़ाई॥'* (२। ११३) [(ख) *'लजाए'* इति। क्योंकि सुरतरु अपकारकी वस्तुको भी देकर नाश करनेवाला है और यहाँ तो सदा परोपकार ही सिद्ध है। पुनः, वह माँगनेपर देता है, वह भी नाशवान् पदार्थ। और यह स्वतः देता है और अक्षय पदार्थ देता है। पुनः, वह अर्थ, धर्म और काम देता है और यह मोक्षसहित अमित फल देता है। पुनः वह लौकिक वा प्राकृत फल देता है और यह अलौकिक, अप्राकृत दर्शनमात्रसे रामानुरागरूपी फलकी प्राप्ति कर देता है। (मा० त० वि०) पुनः, ये सब वृक्ष पृथ्वीसे उत्पन्न हैं और श्रीजानकीजी भी भूमिजा हैं। यह सब विभूति अनादि है। अतः *'निज संपति'* श्रीजानकीजीके विहारसे सुरतरुको लज्जित करते हैं। (रा० च० मिश्र) पुनः, कल्पवृक्ष और इस बागके वृक्षोंको दो पलड़ोंमें रखा गया तो यहाँके

वृक्ष श्रीजानकीजीके नित्य दर्शनरूपी सम्पत्तिकी गुरुतासे यहीं रह गये, इनका पलड़ा न उठा और कल्पवृक्षका पलड़ा इतना हलका पड़ा कि आकाशको चला गया अथवा, लज्जाके मारे स्वर्गमें जा छिपा। (रा० प्र०)] (ग) *'सुररूख लजाए'* का भाव यह है कि इस बागके वृक्ष कल्पवृक्षसे सुन्दर हैं। *'निज संपति'* का भाव यह है कि अपने पत्तों, फूलों और फलोंसे देववृक्षको लज्जित करते हैं। (कल्पवृक्षमें भी फूल, फल और पत्ते होते हैं पर वे ऐसे सुन्दर नहीं हैं।) यहाँ कल्पवृक्षके फल देनेसे तात्पर्य नहीं है वरंच उसकी शोभा-सुन्दरतासे तात्पर्य है [यह वेद-वादका बाग है। **'यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः। वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥'** (वि० त्रि०)]

नोट—२ *'रूख'* शब्द यहाँ बड़ा अनूठा है। देशी भाषा, देहाती बोलीमें *'रूख'* वृक्षको कहते हैं। सुरतरुका लज्जित होना कह ही नहीं रहे हैं वरंच अपने शब्दोंसे कवि उसे दिखा भी रहे हैं। *'रूख'* का अर्थ 'सूखा' भी है। *'सुररूख'* शब्द देकर जनाते हैं कि कल्पवृक्ष इनके सामने अपनेको उनके सदृश न पाकर लज्जाके मारे रूखा पड़ गया है वा सूखी लकड़ीके समान हो गया है।

श्रीलमगोड़ाजी—कितना सजीव बना दिया है। यहाँके वृक्षोंको अपने सौन्दर्यका अनुभव है और इन्होंने मानो कल्पवृक्षको भी लज्जित कर दिया है। 'Personification' निर्जीवको सजीव करना यह है। कलाकी दृष्टिसे 'सुरतरु' पाठ अच्छा है। हमें संकेतकलासे यह भासित होता है कि देववृक्ष तरावटके होते हुए भी लजा गया, कारण कि यहाँ उससे भी अधिक तरावट है। *'रूख'* पाठसे यह समझना चाहिये कि लज्जासे रूखा (सूखा) हो गया, क्योंकि यदि रूख था ही तो लजानेमें कलाका कोई चमत्कार नहीं रहता।

☞ प्राकृतिक दृश्यचित्रणकी बात याद रहे कि तुलसीके परदे केवल चुप नाटकीय परदे नहीं और न केवल हमारी भावनाओं और विचारोंके उत्तेजक हैं वरंच स्वयं भी सजीव हैं, मानवी प्रकृतिसे हिलमिल जाते हैं। फिर सजीवता बड़ी सरल है, कृत्रिम नहीं।

यहाँ मानो 'बाग' वर और बसन्तऋतुके विवाहोत्सवकी महफिल बनायी गयी है—सुन्दर वृक्ष खम्भे, एक वृक्षसे दूसरे वृक्षतक फैली हुई रंग-विरंगकी बेलोंका ही बितान है और नव पल्लव, फल, सुमन ही सजावट है। विश्वसाहित्यके सम्बन्धसे तुलसीदासजीकी संकेतकलाकी महत्ता देखिये। वे हमारी कल्पनाशक्तिको उत्तेजित करके स्वतन्त्र छोड़ देते हैं, उसे जकड़बंद नहीं करते। देखिये, यहाँ किसी विशेष वृक्ष या बेलिका नाम नहीं लिया। समयके परिवर्तनसे रुचि बदलती है। इसीसे 'गुलजारे नसीम' के सौसन, नरगिस, लाला इत्यादिका बाग अब किसीको नहीं भाता और पुराना हो गया, किंतु तुलसीकी फुलवारी वैसी ही बनी है। हाँ, वृक्ष मनोहर और नाना रंगके समझने चाहिये, न कि एक ही तरहके या खराब और इसी तरह बेल भी 'बर' और वर्ण-वर्णकी हैं।

नोट—३ *'चातक कोकिल'''* इति। बागमें पक्षी तो बहुत किस्म (प्रकार) के हैं पर यहाँ चातक, कोकिल, कीर, चकोर और मोर इन पाँचका ही नाम दिया है। कारण कि—

(क) यहाँ बागकी शोभा वर्णन कर रहे हैं। ये बागकी शोभा बढ़ानेवाले पक्षी हैं। वन-बागादिकी शोभाके वर्णनके साथ इन पक्षियोंका भी वर्णन किया गया है; यथा—*नीलकंठ कलकंठ सुक चातक चक्क चकोर। भाँति भाँति बोलहिं बिहग श्रवन सुखद चित चोर॥'* (२। १३७) *'चक चकोर चातक सुक पिक गन। कूजत मंजु मराल मुदित मन॥ अलिगन गावत नाचत मोरा। जनु सुराज मंगल चहुँ ओरा॥'* (२। २३५) —(भृङ्ग एक ही सर्वत्र रहता है), *'कूजत पिक मानहु गज माते।'''मोर चकोर कीर बर बाजी। पारावत मराल सब ताजी।'''चातक बंदी गुन गन बरना॥'* (३। ३८) (प्र० सं०)

(ख) यहाँ शरद्-सेवी, बसन्त-सेवी और वर्षा-सेवी तीनों ऋतुओंमें आनन्द लेनेवाले पक्षियोंको गिनाया है। ये सब एक साथ इस बागमें विहार कर रहे हैं, यह दिखाकर जनाते हैं कि इस बागमें सर्व ऋतुओंसे विलक्षण ऋतु है जो अकथनीय है। (रा० प्र०)

(ग) चातक और चकोर शरद्-सेवी हैं। इस समय शरद्-ऋतु विद्यमान है और चातक शरद्का

मुख्य सेवी है, इसीसे 'चातक' को प्रथम कहा। कोकिल और कीर वसन्त-सेवी हैं, (और यहाँ वसन्त लुभाकर रह ही गयी है, अतएव वसन्त-सेवी इन पक्षियोंको भी कहा) शरद्में कुछ वर्षाका भी अंश है। (आश्विनमें वर्षा होती ही है। चतुर्मासामें आश्विन भी है) इसीसे मोरको भी कहा। (त्रिपाठीजी लिखते हैं कि बेलिवितानसे चातकको मेघमण्डलका भ्रम हुआ, नवपल्लवसे कोकिलको वसन्तका भ्रम हो रहा है, नवफलसे शुकको ग्रीष्मका भ्रम हुआ और नवसुमनसे चकोरको छिटकी हुई चाँदनीका भ्रम हुआ। अतः ये सब बोल रहे हैं। ये चारों तालधारीकी भाँति कूज रहे हैं। मोर लतावितानको मेघमण्डल मानकर नृत्य कर रहा है।) श्रीरामजीको देखकर सब पक्षी बोलने लगे, मोर नाचने लगे, यथा—*'देखे राम पथिक नाचत मुदित मोर, मानत मनहु सतड़ित ललित घन धनु सुरधनु गरजनि टँकोर।'* (श्रीराम-घनश्यामको देखकर उसे मेघोंका भ्रम हो रहा है। पीताम्बरमें बिजलीका भ्रम है। धनुषकी टंकोर मेघोंका गर्जन है।) चकोर मुखचन्द्र देख रहा है, यथा—*'सघन छाँह तम रुचिर रजनि बदन चंद चितवत चकोर सरद रितु है।'* पपीहा श्रीरामजीको मेघ जानकर बोलता है, जलकी आशा कर रहा है और कोकिल मानो गा रहा है, यथा—*'गावत कल कोकिल किसोर।'* (भरतजीको भी देखकर इसी तरह पक्षी बोले हैं, यथा—*'मृग बिलोकि खग बोलि सुबानी। सेवहिं सकल राम प्रिय जानी॥'* (२। ३११) (पं० रामकुमारजी)

(घ) यहाँ शृङ्गाररस वर्णन करना है। ये पाँचों पक्षी शृङ्गाररसके उद्दीपक हैं, रसग्राही हैं; इससे इन्हींके नाम लिखे, नहीं तो यह तो प्रथम ही कह आये हैं कि यहाँ *'बिपुल बिहंग निवास।'* (२१२) है। दूसरे ये पाँचों वसन्त, वर्षा और शरद् तीनों ऋतुओंके भोगी (भोक्ता) हैं। अपने-अपने ऋतुके भ्रमसे ये पाँचों इस बागमें सदा बसे रहते हैं। अर्थात् इस बागमें तीनों ऋतुएँ सदा बनी रहती हैं। इस तरह कि वसन्त-ऋतु तो विद्यमान है ही; वह तो यहाँ आकर लुभाकर रह गयी है, इससे उसके भोगी कीर और कोकिल इसमें सदा रहते हैं। वर्षा और शरद्-ऋतु माननेमें चातक-चकोरोंकी भ्रान्ति रूपककी ध्वनि है। वर्षाका इसमें सदा रहना इस प्रकारसे है कि वृक्षोंके पुराने काले-काले (गहरे हरे सघन) पत्ते काली घटाके समान हैं और उनमें श्वेतपुष्पोंकी पंक्ति (वा गुच्छे) बगलोंकी पंक्तिके समान हैं, पीले फूलोंकी पंक्ति (पुष्पजाल) का वायुके सञ्चारसे लहराना बिजलीका चमकना है। लाल, पीले, हरे पुष्पोंकी पंक्तिका मेल (वा कतार) इन्द्र-धनुष है। कुञ्जोंमें पवनके प्रवेशसे शब्दका होना मेघोंका गर्जन है। पुष्परसका सदैव टपकना जलवृष्टिकी भ्रान्ति उत्पन्न करता है, जिसके कारण मयूर सदा सुन्दर नृत्य करता रहता है। श्यामदलोंकी सघनतामें निर्मल श्याम आकाशकी, अनेक रङ्गके (वा श्वेत) फूलोंमें नक्षत्रों-तारागणोंकी और श्रीजनककिशोरीजीके मुखचन्द्रमण्डलमें शरद्पूनोंके चन्द्रमाकी भ्रान्ति होनेसे शरद्-ऋतुकी रात्रिका अनुमानकर शरद्-सेवी चकोर आनन्दित है। (पाँड़ेजी) **'करत प्रकास फिरत फुलवाई'** यह उस चन्द्रका प्रकाश है। छोटी-छोटी लाल रङ्गकी कलियाँ जो भूमिपर फैली पड़ी हैं वे वीरबहूटी हैं। (रा० प्र०)

(ङ) नवीन पल्लव और बहुरङ्गके फूल फूले देख कोकिल और कीर वसन्त मानते हैं। किसी-किसी वृक्षपर जो श्वेत वर्णलताका वितान है वह निर्मल आकाश है। (परंतु इससे आकाश श्वेतरङ्गका हो जायगा। मेरी समझमें पाँड़ेजीका मत विशेष सङ्गत है।) सहचरियोंसहित श्रीजानकीजीका मुख तारागणसहित निर्मल चन्द्रमा है। इससे चकोर शरद् समझता है। श्रीराम-श्यामघनका आगमन जानकर मोर नाचता है। अथवा, नित्य ही सखियोंकी छबिकी बिजली-सी छटा देख आनन्दसे नाचता रहता है। अथवा, यहाँ चैत्ररथ, नन्दन, कैलास और वैकुण्ठादिके पक्षीगण आये हैं, जो अपने-अपने बागका बखान कर रहे हैं, उसे सुनकर मोर 'नटत' अर्थात् 'न, न' नहीं-नहीं करता है। भाव कि ऐसा नहीं है। (रा० प्र०)

(च) पाँच पक्षी कहे क्योंकि भक्त पाँच प्रकारके कहे गये हैं; यथा—'**आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।**'(गीता ७। १६) ('**च**' से पाँचवाँ प्रेमी भक्त कहा गया है) ये पाँचों पक्षी नहीं हैं वरंच मानो पाँचों भक्त हैं जो श्रीरामजानकीका मिलन देखनेके लिये रूपान्तरसे बागमें आये हैं। जिस क्रमसे श्लोकमें भक्तोंके नाम आये हैं, उसी क्रमसे यहाँ पक्षियोंके नाम हैं। चातक आर्तभक्त है। चातक पी-

पी रटा करता है, आर्त कष्टनिवारणार्थ पुकारता है। कोकिल जिज्ञासु है। *'कुहूकुहू कोकिल धुनि करहीं।'* (३। ४०) कीर अर्थार्थी है, चकोर ज्ञानी है और मोर प्रेमी (प्रेमी प्रेममें नाचता है।) (पं० रामकुमार) बैजनाथजीके मतसे चातक अर्थार्थी है; कीर ज्ञानी है, चकोर आर्त है। ये सब पक्षीरूप धरकर अपने-अपने भावोंको प्रकट कर रहे हैं। (क्यों न हो? विनयमें कहा ही है—*'खेलिबे को खग मृग तरु किंकर होइ रावरो राम होइ रहिहौं।'* )

(छ) चातकादिका कूजना कहकर जनाया कि ये मानो गाते-बजाते हैं और मोर सुन्दर गतिसे नाचता है। (इस तरह यहाँ गाने और नाचनेवाले दोनों कहे।) (वै०, रा० प्र०)

नोट—४ ऊपर *'भूप बाग बर'* कहा। राजाके सेना भट इत्यादि होते हैं, बागको राजा कहकर अब उसकी सेना कहते हैं। वसन्तका यहाँ लुभाकर रह जाना कहा था, अब वसन्तका साज वर्णन करते हैं। और बागको जो 'वर' कहा था वह वरपन, वह श्रेष्ठता यहाँ दिखाते आ रहे हैं कि यहाँ नये पत्ते-फूल-फल सदा ही बने रहते हैं, यही नहीं किंतु फूल-फल-पत्ते तीनों एक साथ यह अद्भुत सम्पत्तिविभूति देखिये; और भी देखिये कि चातक, कोकिल, कीर, चकोरादि सभी यहाँ अपने-अपने ऋतुओंका आनन्द सब दिन पाते हैं। इन सबोंका एक ही साथ यहाँ विहार कहकर सब ऋतुओंमें इस बागको विलक्षण ठहराया। (प्र० सं०)

नोट—५ ऊपर कह आये हैं कि यहाँ बाग-राजाकी सेना कहते हैं? वह सेना क्या है सो सुनिये—

नाना प्रकारके विटप नाना प्रकारकी वर्दीवाले भट, ध्वजा और पताका हैं, यथा—*'कहुँ कहुँ सुंदर बिटप सुहाए। जनु भट बिलग बिलग होइ छाए॥ कदलि ताल बर ध्वजा पताका।'* (३। ३८) बेलें शामियाने हैं; यथा—*'बिटप बिसाल लता अरुझानी। बिबिध बितान दिये जनु तानी॥'* (३। ३८। १) फूल (वा, फूलोंसे सुशोभित वृक्ष) बाने बंद हैं; यथा—*'बिबिध भाँति फूले तरु नाना। जनु बानैत बने बहु बाना॥'* (३। ३८। ३) अब नाच-रङ्गका सामान चाहिये सो यहाँ पक्षी हैं, यथा—*'अलिगन गावत नाचत मोरा।', 'चातक बंदी गुनगन बरना।'* (३। ३८। ८) वा, हाथी-घोड़े आदि चाहिये सो यहाँ ये पक्षी हैं, यथा—*'कूजत पिक मानहुँ गज माते।' 'मोर चकोर कीर बर बाजी।' ''चातक बंदी गुनगन बरना॥'* चातक भाट आदि हैं। (३। ३८)

नोट—६ श्रीराजारामशरणजी—महफिलमें गायकोंका समूह है। शब्दगुण यह है कि पक्षियोंका 'च' और 'क' प्रधान चहकना साफ सुनायी पड़ता है और उनके नामके नाम आ गये। सब ऋतुओंके पक्षी मौजूद हैं, यह कोई आश्चर्यकी बात राजाओंके बागमें नहीं है। सब ऋतुओंका लुत्फ है, यही तो वसन्त-ऋतुके लुभाकर रह जानेका कारण है, नहीं तो एक ऋतुको दूसरे ऋतुका मजा ही कहाँ मिल सकता है—देखा आपने कलाका चमत्कार!

'विहङ्ग' का शब्दगुण देखिये। 'कूजत' की गूँज साफ है। *'नटत कल मोरा'*—नाचनेवाला 'कत्थक' भी मानो महफिलमें 'मोर' रूपमें मौजूद है। 'रा' से नाचनेमें घूम जाना और 'नचत' में मानो नाचनेवालेके पैरकी थाप ही चित्रित है। 'कल' शब्दमें 'मोर' के सुन्दर पेशवाजका संकेत है।

**मध्य बाग सरु सोह सुहावा। मनि सोपान बिचित्र बनावा॥ ७॥**
**बिमल सलिल सरसिज बहुरंगा। जलखग कूजत गुंजत भृंगा॥ ८॥**

अर्थ—बागके बीचोंबीच सुन्दर तालाब सुशोभित है। मणियोंकी सीढ़ियाँ हैं। रङ्ग-बिरङ्गकी विलक्षण बनावट है (अर्थात् अनेक प्रकारकी मणियाँ रङ्ग-रङ्गकी उसमें लगी हैं॥ ७॥ जल निर्मल है, बहुत रङ्गोंके कमल (उसमें फूले हुए) हैं, जलपक्षी कूज रहे हैं और भौंरे गुंजार कर रहे हैं॥ ८॥

श्रीराजारामशरणजी—१ *'सरु सोह सुहावा'* का अनुप्रास कितना रसपूर्ण है? २—*'मनि सोपान'* इति। जहाँ सरोवरकी सीढ़ियाँ मणियोंकी पच्चीकारी की हैं, वहाँके मन्दिरकी बनावटका क्या कहना? संकेतकला विचारणीय है। राजकुँअर फूल लेने आये थे इससे मन्दिरमें गये ही नहीं और श्रीसीताजी पूजाकी भावनासे आयी थीं, इससे मन्दिरकी कलाकी ओर इस समय किसीका ध्यान ही नहीं है। कवि भी *'सर समीप*

*गिरिजागृह सोहा। बरनि न जाइ देखि मन मोहा॥'* कहकर इसीलिये छोड़ देगा। हाँ, कलाका आनन्द सियरघुवीर-विवाह-मण्डपमें देखिये और कुछ वैसा ही यहाँ भी समझ लीजिये। ३—*'सरसिज'* इति। कविकी सावधानी देखिये। यदि 'पंकज' लिखते तो 'बिमल' न निभता, कारण कि पंककी ओर ध्यान अवश्य जाता। [इसी तरह पम्पासरोवरके जलके विषयमें *'संत हृदय जस निर्मल बारी'* जब कहा तब *'बिकसे सरसिज नाना रंगा'* कहा है।] ४—*'गुंजत भृंगा'* इति। कैसी सुन्दर गुणकी गूँज है और 'भृंग' शब्द भी कितना उचित?

टिप्पणी—१ (क) *'मध्य बाग सरु सोह'''* इति। सरकी शोभा कई प्रकारसे दिखाते हैं। तड़ागकी शोभा एक तो बागके मध्यमें होनेसे है, दूसरे वह अपने स्वरूपसे सुन्दर है—मणियोंकी सीढ़ियाँ हैं, कमल अनेक रंगके फूले हुए हैं और जल निर्मल है। दो प्रकारकी सुन्दरता दिखानेके लिये *'सोह'* और *'सुहावा'* दो पद दिये। [पांडेजी यह शंका उठाकर कि 'यहाँ दो शब्द एक अर्थके होनेसे पुनरुक्ति दोष आता है?' उसका समाधान यह करते हैं कि यहाँ कवि *'बाग सरु'* और *'सोह सुहावा'* एक पंक्तिमें रखकर अन्योन्यालङ्कारका अर्थ सूचित करते हैं। 'सोह' का सम्बन्ध 'सर' से और 'सुहावा' का बागसे है। आशय यह है कि 'बागका शोभित करनेवाला सर मध्यबागमें सोहता है। तात्पर्य कि 'बाग बिना सरके और सर बिना बागके नहीं सोहता। यहाँ दोनों हैं बागकी शोभासे सर सुहावा और सरकी शोभासे बाग।' ( रा० च० मिश्र) वस्तुतः यहाँ पुनरुक्ति नहीं है, 'सुहावा' विशेषण है और 'सोह' क्रिया है।] (ख)☞बागका वर्णन कर चुके, अब सरकी शोभा कहते हैं। जैसे-जैसे श्रीरामजी बागके समीप (उसके भीतर विटप आदिके समीप) जाते हैं तैसे-तैसे बागका वर्णन कवि करते जाते हैं। पहले बागका समष्टिरूप उन्होंने देखा, इसीसे कहा कि *'भूप बाग बर देखेउ जाई।'* आगे चलनेपर क्रमसे विटप, बेलि, फल-फूल और पक्षी देख पड़े—*'लागे बिटप''', 'बरन बरन बर बेलि बिताना', 'नव पल्लव फल सुमन सुहाए', 'चातक कोकिल'''।'* मध्यबागमें पहुँचे तब तड़ागकी शोभा देखी। [(ग) *'बिचित्र बनावा',* एक तो रंग-बिरंगकी मणियोंसे बना इससे विचित्र, दूसरे बनावट भी बड़ी कारीगरी और कलाकी है। तीसरे, 'विचित्रता यह कि सीढ़ियोंपर लता, वृक्ष और जलका आभास पड़ रहा है और जलमें भी लता, वृक्ष और सीढ़ियाँ भासित हो रही हैं। अतः जलमें थल और थलमें जलकी प्रतीति होती है।' (मिश्रजी) गीतावलीमें चित्रकूटकी शोभा कहते हुए भी कुछ ऐसा ही कहा है; यथा—*'जलजुत बिमल सिलनि झलकत नभ बन-प्रतिबिंब तरंग।'* (गी० २। ५०। ५) पुनः, विचित्र बनाव यह कि श्वेतमणिकी भूमिका, नीलमणिकी डालें, हरितमणिके पत्र, पीतमणि पीरोजाके फूल, लालमणिके फल, इत्यादिसे उनमें बेलें इत्यादि बनी हैं यह विचित्रता है। (वै०) जिसमें विशेष रचना हो उसे 'विचित्र' कहते हैं, अथवा, जिसमें विजातीय आश्चर्य हो वह विचित्र है। (रा० प्र०) (घ) सर बागके मध्यमें बनानेका भाव कि बागका जीवन जल है और शरीरका जीवन प्राणवायु है जो हृदयमें (शरीरके मध्यमें) रहता है। इसीसे बागके जीवन सरको भी मध्यमें स्थान दिया। अथवा, नाभिको सर कहा जाता है, नाभि शरीरके बीचमें है इससे बागके बीचमें सरको रखा। (रा० प्र०)]

नोट—१ *'बिमल सलिल'''* इति। *'बिमल'* कहकर जनाया कि स्फटिकमणिके समान स्वच्छ अगाध जल है। *'सरसिज बहुरंगा'* से पाया गया कि सर सघन पुरइनसे परिपूर्ण आच्छादित है। इन पुरैनियोंके बीच-बीच श्याम, श्वेत, पीत और अरुण कमल हैं, जिनमेंसे कुछ फूले हैं, कुछ अधफूले हैं और कुछमें अभी कली निकली हैं। (वै०) जनकपुरके वर्णनमें *'सलिल सुधा सम मनि सोपाना'* कहकर पुरके सभी सरोवरोंका वर्णन कर चुके हैं—२१२ (५) देखिये। इस सरकी विशेषता यह है कि यहाँके मणिसोपानकी कारीगरी विचित्र है, अनेक रंगोंके कमल इस एक तालाबमें हैं। (वि० त्रि०)

**टिप्पणी—२ (क) *'सरसिज बहुरंगा'* इति। कमलोंका फूलना आशयसे जना दिया। जलपक्षी बोलते हैं, भ्रमर गुञ्जार कर रहे हैं। शरद्-ऋतु है; इसीसे जलका विमल होना और कमलका फूलना कहा।** बिना कमलके फूले भ्रमर गुञ्जार न करते। (ख) भ्रमर और जलपक्षी दोनों कमलके स्नेही हैं, यथा—*'बालचरित चहुँ बंधु के बनज बिपुल बहुरंग। नृप रानी परिजन सुकृत मधुकर बारि बिहंग॥'* (४०) इसीसे कमलोंका

प्रफुल्लित होना कहकर तब इन दोनोंका बोलना लिखा। (ग) बागके और जलके पक्षी पृथक्-पृथक् लिखे और दोनों (बाग और तड़ागके वर्णन) के अन्तमें भृङ्गको कहा, क्योंकि भृङ्ग बाग और तड़ागके सब एक ही हैं, पृथक्-पृथक् नहीं हैं। (घ) *'बिमल सलिल सरसिज बहुरंगा',* यह शरद्‌का धर्म वर्णन किया, क्योंकि वर्तमान कालमें शरद् है।

नोट—२ ऐसा ही जनकपुरके वर्णनमें कहा है,—*'बापी कूप सरित सर नाना। सलिल सुधासम मनि सोपाना॥ गुंजत मंजु मत्तरस भृंगा। कूजत कल बहुबरन बिहंगा॥ बरन बरन बिकसे बनजाता। त्रिबिध समीर सदा सुखदाता॥'* (२१२। ६-८) यहाँतक जलाशयके पक्षी कहे। *'सुमनबाटिका बाग बन…'* (२१२) यहाँतक वाटिका, बाग, वन कहे। फिर बाटिका, बाग, वनमेंके पक्षी कहे,—*'बिपुल बिहंग निवास।'* (२१२) परंतु भ्रमर एक ही जगह कहा था, फिर न कहा; क्योंकि भ्रमरमें भेद नहीं है। वह सर्वत्र एक है। (पं० रामकुमार) २—*'बहुरंगा'* देहलीदीपक है। कमल भी बहुरङ्गके (पीत, श्याम, श्वेत, अरुण) और जलपक्षी भी बहुरङ्गके। पाँड़ेजी कहते हैं कि *'बहुरंगा'* सरसिज, जलखग, कूजत, गुंजत और भृङ्गा सभीमें लगता है। कमलों और पक्षियोंका बहुरंग होना तो प्रत्यक्ष ही है, पक्षियोंकी बोली 'कूज' भी बहुरंगकी हुई और भृङ्ग बहुरंग इससे हुए कि जिस रंगके कमलपर बैठे उसी रंगके हो गये। 'बहुरंग कमल' ३७ (५) में देखिये। अन्यत्र कहीं पीत जीरेसे भर जानेसे भृङ्गको पीत रंगका कहा गया है। ३—*'जलखग कूजत गुंजत भृंगा'* इति। जलपक्षीके कूजनेका भाव कि ये श्रीरामघनश्यामको देखकर बोल उठे। भ्रमरके गुञ्जारका भाव कि सब लोग श्याम होनेके कारण हमारा निरादर करते थे सो आज वे सब श्यामहीपर लट्टू हो जायँगे वा श्यामपर निछावर होंगे। (रा० प्र०)

**दो०—बागु तड़ागु बिलोकि प्रभु हरषे बंधु समेत।**
**परम रम्य आरामु येहु जो रामहि सुख देत॥२२७॥**

अर्थ—बाग और तालाबको देखकर भाईसहित श्रीरामजी प्रसन्न हुए। यह बाग परम रमणीक है कि जो श्रीरामजीको सुख दे रहा है॥ २२७।

श्रीराजारामशरणजी—१ *'हरषे'।* कविने किस सुन्दरतासे शृङ्गारके माधुर्यको पैदा कर दिया? प्रात:कालका समय, बागकी सैर और वहाँ प्रकृतिमें भी वसन्तके विवाहकी रचना और फिर यहाँ सरोवरमें शिल्पकलाका सौन्दर्य सब मिलकर सौन्दर्यानुभवकी शक्ति (Esthetic Faculty) का विकास कर देते हैं जहाँतक इसका सम्बन्ध है वहाँतक *'बंधु समेत'* ही सब कार्य होंगे; लेकिन जहाँ इससे ऊपर उठेंगे वहाँ कवि सूक्ष्मताके साथ श्रीरामके अनुभवको अलग कर देगा। *'कंकन…'*

२—रम्य, आराम और राममें कलाकी वह युक्ति है कि एक धातुसे निकले हुए शब्दोंको एक जगह प्रयोग करनेमें अलङ्कार बन जाता है।

टिप्पणी—१ (क) यहाँतक बाग और तड़ाग दोनोंका पृथक्-पृथक् वर्णन करके अब दोनोंको एकत्र करते हैं कि ऐसे बाग और तड़ागको देखकर प्रभु हर्षित हुए। प्रथम बाग देखा, पीछे तालाब। उसी क्रमसे यहाँ प्रथम 'बाग' लिखा तब तड़ाग। (ख) दोनोंको देख लेनेपर हर्ष लिखनेसे पाया गया कि अब बागकी पूर्ण शोभा देखनेमें आयी। [(ग) पुन:, *'बागु तड़ागु बिलोकि प्रभु'* का दूसरा अर्थ यह है कि 'तड़ागमें बागको देखकर प्रभु प्रसन्न हुए।' अर्थात् वृक्षों, लताओं, फूल, फल, पत्ते आदिकी परछाईं मणियोंकी सीढ़ियों और निर्मल जलमें देखकर हर्ष हुआ। (पाँड़ेजी, रा० प्र०)] (घ) *'परम रम्य आरामु येहु जो रामहि सुख देत।'* इति। भाव कि श्रीरामजी अपनी शोभासे सबको सुख देते हैं और यह बाग स्वयं श्रीरामजीको सुख देता है। पुन: भाव कि जो श्रीरामजी स्वत: सुखस्वरूप हैं उनको भी इसने सुख दिया। यथा—*'अस तीरथपति देखि सुहावा। सुख सागर रघुबर सुख पावा॥'* (२। १०६। २)

वि० त्रि०—*'परम रम्य'* इति। रम्य नगरको देखकर ही विशेष हर्षित हुए थे। यथा—*'पुररम्यता राम*

*जब देखी। हरषे बंधु समेत बिसेषी॥'* अब उससे भी अधिक हर्ष है, क्योंकि यह *'परम रम्य'* है। पर्वतोंमें कैलास, धरणीमें सेतुबन्धकी भूमि, (आश्रमोंमें भरद्वाजाश्रम) और बागोंमें श्रीजनकमहाराजका बाग परम रम्य है। यथा—*'परम रम्य गिरिबर कैलासू', 'परम रम्य उत्तम यह धरनी', 'भरद्वाज आश्रम अति पावन। परम रम्य मुनिबर मन भावन॥'* रम्यतासे हर्ष और परम रम्यतासे सुख होता है।

नोट—१ *'परम रम्य आरामु''''रामहि सुख देत'* इति। भाव कि **'रमन्ते योगिनोऽस्मिन्'** तथा जो जगत्‌को अपनेमें रमानेवाला है, जो स्वयं आनन्दकन्द, आनन्दनिधान, आनन्दरूप है, जो *'आनंदसिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक्य सुपासी॥'* है, जब उसको भी इस बागसे सुख हो रहा है तो यह *'परम रम्य'* क्यों न हो? अवश्य ही होना चाहिये। *'परम रम्य'* का अर्थ इस युक्तिसे सिद्ध करना 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार है।

नोट—२ पाँड़ेजी लिखते हैं कि—(क)'दूसरा अर्थ यह है कि *'परम रम्य'* जो वस्तु है उसका यह बाग आराम देनेवाला है अर्थात् वह वस्तु इसमें विश्राम करती है। [**'परम रम्य'**=मूर्तिमती परम रमणीयता वा=परम रम्य जो जानकीजी उनका यह 'आराम' (बाग अथवा विश्रामस्थान) है। अतः *'रामहि सुख देत।'* (ख) *'देत'* शब्द तीनों कालोंका बोधक है। *'बाग बिलोकि''हरषे'* यह भूतकाल, *'लगे लेन दल फूल मुदित'* यह वर्तमान और *'तेहि अवसर सीता तहँ आई'* यह भविष्यकाल हुआ। [अथवा वर्तमानमें *'सुख देत'* और भविष्यमें *'देखि सीय सोभा सुख पावा।'* (२३०। ५) (प्र० सं०)]

नोट—३ मा० त० वि० *'परम रम्य'* इति। 'जो श्रीरामजीका नित्य सुखदायक केलिकुंज है, यह वही *'परम रम्य आरामु'* है। वा यहाँका सुख राम ही जानते हैं, औरकी ऐसी दृष्टि कहाँ कि श्रीजानकीजीवन-तत्त्वके प्रादुर्भावको यहाँ जान सके।'

## चहुँ दिसि चितइ पूँछि मालीगन। लगे लेन दल फूल मुदित मन॥ १॥

अर्थ—चारों ओर दृष्टि डालकर (देखकर) और मालियोंसे पूछकर प्रसन्न मनसे दल-फूल लेने लगे॥ १॥

टिप्पणी—१ *'चहुँ दिसि चितइ'* इति। (क) इससे जनाया कि चारों दिशाओंमें बागकी शोभा ऐसी ही है। इसीसे चारों ओर बागकी शोभा देखी। (ख) बागके मध्यमें तालाबके पास खड़े होकर चारों ओर बागकी शोभा देखी और यह भी देखा कि गुरुजीकी पूजाके उपयोगी उत्तम दल-फूल कहाँ-कहाँ हैं। (प्र० सं०) अथवा [(ग) कल नगरदर्शनके समय यह सुन चुके थे कि श्रीजानकीजी वाटिकामें इस समय आया करती हैं, आज भी आयँगी। अतः चारों ओर देखा कि अभी आयी हैं या नहीं। (रा० प्र०, पाँ०, रा० च० मिश्र, वै०) चारों ओर निहारनेमें सीताजीके दर्शनकी उत्कण्ठा व्यञ्जित होना 'व्यङ्ग' है। अथवा (घ) चारों ओर देखा कि बागके माली कहाँ हैं, उनसे पूछकर तब फूल लें। अथवा (ङ) सिंह हैं अतः चारों ओर देखकर ही कार्यारम्भ करते हैं। यथा—*'सिंह ठवनि इत उत चितव धीर बीर बल पुंज।'* (बि० त्रि०)]

टिप्पणी—२ (क) *'पूँछि मालीगन'* इति। मालियोंसे पूछकर तब फूल तोड़े (उतारे) क्योंकि ऐसी धर्मशास्त्रकी आज्ञा है। बिना पूछे पत्र, पुष्प, दल-फूल इत्यादि लेनेका निषेध है। (बाग बहुत बड़ा है। इसीसे इसकी रक्षाके लिये बहुत माली नियुक्त हैं। इसीसे माली-गणसे पूछना कहा। श्रीरामजी तो तालाबके समीप ही हैं। कविने उनको तालाबपर पहुँचानेपर मालियोंसे पूछना कहा है। इससे जान पड़ता है कि श्रीरामजीकी शोभाका दर्शन करनेके लिये सब माली दौड़कर तालाबके समीप ही एकत्र हो गये हैं, जैसे नगर-दर्शनके समय सब लोग श्रीरामजीके दर्शनार्थ एकत्र हुए थे। यथा—*'धाए धाम काम सब त्यागी। मनहुँ रंक निधि लूटन लागी॥'* (२२०। २) तथा जैसे वनवासके समय ग्रामवासी श्रीराम-बटोहीके दर्शनको दौड़कर एकत्र हुए हैं; यथा—*'सुनि सब बाल बृद्ध नर नारी। चलहिं तुरत गृह काज बिसारी॥ राम लखन सिय रूप निहारी। पाइ नयन फलु होहिं सुखारी॥'* (२। ११४) इत्यादि। अतएव सबसे उसी जगह पूछ लिया), पूछकर लेना सभ्यता और नीतिका पालन जनाता है। [अथवा बागके चारों ओर देखनेपर श्रीजानकीजीको जब न देखा तब मालियोंसे पूछा कि आयी हैं या नहीं, या लौट गयीं। (पाँ०, वै०, रा० प्र०) (ख) अथवा उस बागमें कोई पुरुष नहीं जाने पाता था, वहाँ सखियाँ ही रहती थीं। इसलिये 'माली' का अर्थ है, 'मा-

आलि' अर्थात् श्रीयुक्त सखी, वा लक्ष्मी-समान शोभायुक्त सखी, वा लक्ष्मी जिसकी सखी है ऐसी सखीगणसे पूछा। (मा० त० वि०, रा० प्र०)]

टिप्पणी—३ *'लगे लेन दल फूल मुदित मन'* इति। (क) यहाँ दल-फूलका नाम नहीं लेते, जिसमें सभी दलों और सभी उपयोगी फूलोंका ग्रहण हो जाय। जैसे, दूर्वादल, बिल्वदल, तुलसीदल इत्यादि। फूल भी गुलाब, कमल, जूही, चमेली, चम्पा, मोतिया, बेला इत्यादि। (ख) प्रथम **'दल'** शब्द देनेसे पाया गया कि पहले दल उतारे, पीछे फूल तोड़े। [दलका माहात्म्य अधिक है। इससे इसे प्रथम कहा। 'दल' से प्रायः तुलसीदलका ही तात्पर्य होता है। वही अर्थ यहाँ ग्राह्य है। परन्तु गोस्वामीजीने बहुमत भेदके कारण 'तुलसी' शब्द नहीं दिया, जिसमें सब लोग अपने-अपने मतानुसार अर्थ लगा लें। स्नानके पश्चात् 'दल' उतारनेकी विधि है। बिना स्नानके तुलसीदल उतारना पाप है और उससे की हुई पूजा व्यर्थ हो जाती है। फूल स्नानके पहले उतारे जाते हैं पर यहाँ फूल भी स्नानके पश्चात् उतारे गये। इसका समाधान यह किया जाता है कि अपनी पूजाके लिये स्नानके बाद फूल उतारनेका निषेध है और यहाँ तो गुरुजीके लिये फूल उतारे गये हैं। पुनः, यहाँ 'दल' शब्द प्रथम देकर उसीको मुख्य जनाया गया है, इससे भी शंका न करनी चाहिये। प्र० स्वामीका मत है कि यहाँ 'दल' का अर्थ 'पलाश आदि पत्ते' लेना आवश्यक है क्योंकि आगे *'सुमन समेत बाम कर दोना'* कहा है। पहले पत्ते लेकर दोने बनाकर बायें हाथमें रखे।] (ग) *'मुदित मन'* इति। फूलोंकी सुन्दरता प्रथम ही कह चुके हैं, यथा—*'नव पल्लव फल सुमन सुहाए। निज संपति सुररूख लजाए॥'* सुन्दरता देखकर मन मुदित हुआ। [पुनः *'मुदित मन'* का भाव कि आज मन भाये दल-पुष्प मिलेंगे, गुरुजी भी उत्तम दल-फूल पाकर प्रसन्न होंगे। पुनः मनका प्रसन्न होना शकुन है जिसका फल बागमें श्रीजानकीजीका दर्शन होगा (पं०, रा० प्र०)। अथवा पिछले दिन जिस फुलवारीमें गये थे—*'गए रहे देखन फुलवाई।'* (२१५। ४) उसमें ऐसे सुन्दर दल-फूल न थे तथा जबसे मुनिके साथ श्रीअयोध्याजीसे आये तबसे ऐसे सुन्दर फूल आज ही मिले। अतः प्रसन्न होकर उतारने लगे। मालियोंने आज्ञा दे दी, यह भी सूचित कर दिया। अथवा (पाँड़ेजी तथा बैजनाथजीके मतानुसार) *'मुदित मन'* से जान पड़ता है कि पहले कुछ विमन हो गये थे। जब बागके चारों ओर दृष्टि दौड़ायी और श्रीजानकीजीको न देखा तब विमन (उदास) हो गये थे। फिर मालियोंसे पूछनेपर जब उन्होंने बताया कि आनेका यही समय है, अभी आयी नहीं हैं, तब मुदित हुए और दल-फूल लेने लगे। *'लगे'* शब्द विलम्ब सूचित कर रहा है कि वे आवें और ये उनको देखें।—(यह शृङ्गारियों, रसिकोंके भाव हैं।)] (घ) दोनों भाइयोंको दल-फूल लेनेमें लगाकर आगे दूसरा प्रसंग कहेंगे।

प० प० प्र०—अवधसे निकलनेपर आज ही प्रथम-प्रथम ऐसे दल-फूल देखनेको मिले इसीसे *'मुदित मन'* हैं। यहाँ किशोरीजीके दर्शन-लाभकी आशा इत्यादिवाले भाव गोस्वामीजीके सात्त्विक शुद्ध शृङ्गारकी मर्यादा हानि करनेवाले और मर्यादा-पुरुषोत्तमके आदर्श परम सरल शुद्ध चरित्रपर कलङ्क लगानेवाले हैं। २२८ (२) की टिप्पणी १ में सम्पादकने जो ऐसे अमर्यादित भावोंका खण्डन किया है वही उचित है। *'इहाँ न बिषय कथा रस नाना'* यह पहले ग्रन्थकारने कह रखा है, यह कभी न भूलना चाहिये।

श्रीराजारामशरणजी—१ रामजी तो साधारण रीति वा ढंगसे मालियोंके पूछनेके हेतुसे और इस हेतुसे कि किस ओर अच्छे फूल हैं, चारों ओर देखते हैं, लेकिन नाटकी कलाकी आँख-मिचौनीका आनन्द हमें मिल जाता है। दर्शक श्रीसीताजी इत्यादिको आते देख रहे हैं और उसी समय श्रीरामजी भी चारों ओर देखते हैं। क्या देखनेवालोंके दिलोंमें गुदगुदी नहीं पैदा होगी कि रामजीकी नजरसे श्रीसीताजी तनिक ओटके कारण कैसी बच गयीं? क्या शृङ्गारप्रिय दर्शक यह न कहते होंगे कि कहाँका फूल तोड़ना, अरे भाई राजकुँवर! इधर तो देखो!

२ *'मुदित'* यह अवस्था रामजीकी करीब-करीब (प्रायः) स्थायी बन गयी है। वनवासमें भी सखियोंने भरतजीको देख यही कहा है—*'मुख प्रसन्न नहिं मानस खेदा। सखि संदेह होत एहि भेदा॥'* (अर्थात् श्रीरामजीका

मुख तो प्रसन्न था, किंतु ये प्रसन्न-मुख नहीं हैं।)

३ ☞ राजकुँवर शान्त और वीररसमें पगे थे, इससे कविने शृङ्गाररसके उद्दीपनकी इतनी चेष्टा की है। फूल तोड़ना भी इस सम्बन्धसे विचारणीय है परंतु फूल तोड़नेका हेतु गुरुजीकी पूजा होनेके कारण शृङ्गार मर्यादित ही रहेगा। 'गुल खिलाने' और 'गुलछर्रे उड़ानेवाली' बात न होने पावेगी। उधर जनकपुरमें शृङ्गार और वीररस (पर विशेषतः शृङ्गार ही) की प्रधानता है, इससे 'गिरिजापूजन' का हेतु रखकर उसे मर्यादित रखा है।

**तेहि अवसर सीता तहँ आई। गिरिजा पूजन जननि पठाई॥ २॥**

अर्थ—उसी अवसरपर श्रीसीताजी, वहाँ आयीं। माताने श्रीगिरिजाका पूजन करनेके लिये उनको भेजा है॥ २॥

श्रीलमगोड़ाजी—'*तेहि अवसर*' स्पष्ट बताता है कि कविने जान-बूझकर यह प्रसंग नाटकीयकलाकी पूर्तिके लिये रचा है।

टिप्पणी—१ '*तेहि अवसर*' इति। भाव कि—(क) श्रीरामजीके दल-फूल लेने आने और श्रीसीताजीके गिरिजापूजनका समय एक ही है, इसीसे '*तेहि अवसर आई*' कहा (इधर ये दल-फूल उतारने लगे, उधर वे भी पहुँचीं।) पुनः (ख) नारदवचनके प्रभावसे (जैसा '*सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत॥*' (२२९) से सिद्ध होता है) अथवा दैवयोगसे उसी समय आना हुआ। यथा—'*सखिन्ह सहित तेहि अवसर बिधिके सँजोग गिरिजाजू पूजिबे को जानकीजू आई हैं॥*' (गी० १। ६९। ३) [गीतावलीके इस उद्धरणसे नगरदर्शनके समय पुष्पवृष्टिद्वारा वाटिकामें बुलाने आदिके संकेतवाले भावोंका खण्डन हो जाता है। गोस्वामीजीका वह मत नहीं पाया जाता। बैजनाथजीने जो लिखा है कि 'श्रीकिशोरीजीकी दूती लगी थी। जैसे ही दोनों भाई बागको चले वैसे ही उसने समाचार दिया, इसीसे उसी समय सीताजी आयीं' इसका भी खण्डन हो जाता है। (मा० सं०) (ग) श्रीसीताजीके गौरीपूजनका नित्यका ही यही समय है जैसा '*पुनि आउब एहि बेरिआँ काली॥*' (२३४। ६) और '*करहु सफल आपनि सेवकाई॥*' (२५७। ६) से सिद्ध होता है। इसीसे इसी समय माताने भेजा। (मा० त० वि०)]

नोट—१ '*सीता तहँ आई*' इति। (क) यहाँ 'सीता' मुख्य ऐश्वर्यसूचक नाम दिया गया है। जहाँ-जहाँ ऐश्वर्यका वर्णन हुआ है वहाँ-वहाँ यह नाम दिया गया है। यथा—'**सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ।**' (मं० श्लो० ४) '**उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं''सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥**'(मं० श्लो० ५) और अवतारके पूर्व ही जब प्रथम-प्रथम आपने श्रीमनुशतरूपाजीको दर्शन दिया तब भी यही नाम प्रकट किया गया था, यथा—'*राम बाम दिसि सीता सोई॥*' (१४८। ४) हलके अग्रभागकी ठोकरसे पृथ्वीसे प्रकट होनेसे मिथिलामें भी यही नाम पड़ा था। इसी नामको यहाँ दिया। 'जानकी', 'जनकसुता' आदि नाम न दिये; क्योंकि 'जानकी' आदिसे श्रीउर्मिलाजीका भी बोध होता है। (बै०) (ख) '*सीता*' नाम देनेका भाव यह है कि 'राजकुमार (श्रीरामजी) जो पूर्वानुराग (यथा—'*तत्व प्रेमकर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मन मोरा॥*' (५। १५) के कारण अथवा दर्शनाभिलाषासे संतप्त हैं उनको ये शीतल करेंगी। अथवा, पिताकी प्रतिज्ञासे स्वयं तप्त हैं सो यहाँ श्रीरामजीको देखकर शीतल होंगी। (पाँ०, रा० प्र०) (ग) '*सीता तहँ आई*' कहकर आगे आनेका कारण बताते हैं—'*गिरिजा पूजन*'''

टिप्पणी—२ '*गिरिजा पूजन जननि पठाई*' इति। (क) माताका प्रेम कन्यामें अधिक रहता है, इसीसे जननीका पूजा-हेतु भेजना कहते हैं। गिरिजाजीकी पूजा करने भेजा जिसमें योग्य वर मिले; यह बात '*पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा। निज अनुरूप सुभग बरु माँगा॥*' (२२८। ६) से स्पष्ट है। अथवा, [(ख) पुष्पवाटिकामें राजकुमारीका आना लोक-विरुद्ध पाया जाता है, उसका समाधान करते हैं कि '*जननि पठाई*' माताने भेजा है। क्यों भेजा? गिरिजापूजन-हेतु। (पाँ०) वा, (ग) कल अन्तिम दिन है, कल स्वयंवर धनुषयज्ञ है। कल पूजनका अवकाश न मिलेगा और स्वयंवर-समय गौरी-पूजन कुलका प्रायः नियम था जैसे रुक्मिणीजीके

स्वयंवरमें भी हुआ है; यथा—'**पूर्वेद्युरस्ति महती कुलदेवि यात्रा यस्यां बहिर्नववधूर्गिरिजामुपेयात्।**' (भा० १०। ५२। ४२) (व्याहके एक दिन पहिले कुलदेवीकी यात्रा होती है जिसमें वधू बाहर गिरिजा-पूजनके लिये जाती है। अतः माताने भेजा कि गौरीजीका पूजन कर अपने अनुरूप वर माँग आओ। (मा० त० वि०) वा, (घ) जिस कन्याके विवाहमें कठिनता होती है उसमें भगवती-पूजनकी परम्परा है, यथा—'**कात्यायनि महाभागे महायोगिन्यधीश्वरि। नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः॥' इति मन्त्रेण** अतः भेजा। (मा० त० वि०) वा, (ङ) श्रीसीताजी सदा पूजा करती थीं, आज अन्तिम दिन है और धनुष जिसके तोड़नेकी प्रतिज्ञा स्वयंवरके लिये की गयी है वह श्रीशिवजीका है। शिवा उनकी अर्धाङ्गिनी हैं, यदि ये कृपा कर दें तो कामनाकी सिद्धि दुस्तर नहीं। अतः गिरिजापूजनको भेजा कि जो अपना अभीष्ट होगा वह माँग लेंगी। (मा० त० वि०) अथवा, (च) श्रीसीताजी नित्य नहीं जाती थीं, कभी-ही-कभी माताकी आज्ञासे पूजनकी बहुत-सी सामग्री साथमें लेकर गौरी-पूजनके लिये वाटिकामें जाती थीं, यह सत्योपाख्यानका मत है। यथा—'**कदाचिद्वाटिकां याति पूजामादाय भूयसीम्। पूजनार्थं तु गौर्यास्तु नियुक्ता मातृणां गणैः॥**' जब श्रीसुनयनाजी किसी कारणवश स्वयं पूजाके लिये न जा सकती थीं तब श्रीकिशोरीजीको ही भेजा करती थीं, वैसे ही इस समय गिरिजा-पूजन-हेतु भेजा। (मा० त० वि०)

नोट—२ यहाँ यह शंका की जाती है कि 'अभी तो सतीजी विद्यमान हैं, वनवासके समय सतीजीको श्रीरामजीके सम्बन्धमें मोह होगा, उसके बहुत हजारों वर्षोंके पश्चात् सती-तनका नाश और गिरिजाजीका जन्म होगा; तब यहाँ 'गिरिजा' कैसे कहते हैं?' कल्याणके 'शक्ति-अंक' में किसी विद्वान्‌ने लिखा है कि सती-मरण और पार्वती-विवाहकी कथाएँ आदि सत्ययुगकी हैं।' इस विषयमें पूर्व लिखा जा चुका है। यहाँ यह कहना है कि यह ग्रन्थकारका मत नहीं है। उनके मतानुसार तो अभी कदापि सती-मरण हो ही नहीं सकता। हाँ, औरोंका मत भले ही यह हुआ करे। हमारी समझमें तो यह शंका सर्वथा असिद्ध है। क्योंकि गोस्वामीजीने एक ऐसे ही संदेहका समाधान पहले ही लिख दिया है, यथा—'***कोउ सुनि संसय करै जनि सुर अनादि जिय जानि॥***' (१००) हमें मानसकी शंकाओंका समाधान प्रायः मानसहीसे कर लेना चाहिये। देवताओंके सब नाम अनादि हैं। यहाँ 'गिरिजा' नाम परोपकारके सम्बन्धसे दिया गया। गिरि परोपकारी होते हैं, यथा—'***संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह कै करनी॥***' (७। १२५) अतः उनकी पुत्री क्यों न उपकार करेंगी? इच्छित वर क्यों न देंगी? इत्यादि। (पां०) गिरिजा प्रत्येक कल्पमें होती हैं, यह प्रसिद्ध है। स्थापना गिरिजाकी ही की जाती है क्योंकि शिव-गिरिजाका सदा नित्य संयोग है, यथा—'***अजा अनादि सक्ति अबिनासिनि। सदा संभु अरधंग निवासिनि॥***' (९८। ३) गिरिजा पुत्रवती हैं—ये सब गुण सतीमें नहीं हैं। इसीसे 'सती' की स्थापना नहीं की गयी, प्रत्युत गिरिजाजीकी की। (पं० रामकुमार) अथवा, श्रीसीताजी कुँआरी हैं, इसलिये इस प्रसंगमें '***गिरिजा***' '***गौरी***' नाम दिये गये, क्योंकि ये शब्द भी प्रायः कुँआरीके सूचक हैं। जब सीताजी अपने हृदयमें श्रीरामजीकी साँवली मूर्तिको बसाकर दूसरी बार गिरिजाजीके समीप वर माँगने जायँगी तब वहाँ '***भवानी***' नाम देंगे अर्थात् भवकी पत्नी कहेंगे। विशेष २३५ (५) में देखिये। (स्मरण रहे कि जब एक कल्पके भीतर चौदह मन्वन्तर होते हैं और प्रत्येक मन्वन्तरमें नये देवता इन्द्र, मनु, ऋषि आदि होते हैं। इस प्रकार न जाने कितनी गिरिजा, कितने गणेश-गौरी आदि पूर्व हो चुके हैं अतः शङ्का व्यर्थ है।) संत श्रीगुरुसहायलालजीका मत है कि यहाँ '***गिरिजा***' शब्दसे केवल अवतारी गिरिजा अभिप्रेत हैं। विशेष २२८ (४) नोट १ देखिये।

**संग सखीं सब सुभग सयानी। गावहिं गीत मनोहर बानी॥ ३॥**

अर्थ—सङ्गमें सखियाँ हैं। सब (सखियाँ) सुन्दरी और सयानी हैं, मनोहर वाणीसे सुन्दर गीत गा रही हैं॥ ३॥

श्रीराजारामशरण—यहाँका शब्द-गुण भी विचारणीय है। एकसे ध्वनिवाले शब्द और अनुप्रासवाले शब्दोंके समूह तथा जोड़े बड़े ही सुन्दर हैं, खासकर "***संग सखीं सब सुभग सयानी***" में मानो ऐसी पराबंदी है कि मानो

कुयोग्य कोई है ही नहीं। रंगमञ्चपर गीत गाती हुई सुन्दर सखियोंके परे (समूह) का आना कितना चित्ताकर्षक है। नाटकीय कलामें इस Chorus (कोरस सामूहिक गान) का आनन्द बड़ा ही सुन्दर है। *'संग सखी…'* से साफ उन कल्पनाओंका निषेध हो जाता है, जिससे 'सँठीगठी' मुलाकातकी ओर संकेत हो सके।

टिप्पणी—१ (क) *'संग सखी'* इति। श्रीसीताजीके साथ सखियाँमात्र हैं, कोई रक्षक सुभट इत्यादि नहीं हैं और पुरके बाहर देश-देशके अनेक राजा टिके हुए हैं; यथा—*'पुर बाहर सर सरित समीपा। उतरे जहँ तहँ बिपुल महीपा॥'* इससे स्पष्ट है कि यह राज-बाग शहर (वा शहरपनाह) के भीतर है। क्योंकि यदि शहरके बाहर होता तो श्रीजानकीजीकी रक्षाके लिये संगमें सुभटोंकी सेना अवश्य जाती; जैसे रुक्मिणीजीके सम्बन्धमें रक्षकोंका जाना कहा गया है। (ख) *'सब सुभग'* इति। सखियोंकी सुन्दरता आगे लिखते हैं, यथा—*'सुंदरता कहँ सुंदर करई। छबिगृह दीपसिखा जनु बरई॥'* यहाँ सखियाँ छबिगृह हैं, यथा—*'सखिन मध्य सिय सोहति कैसी। छबिगन मध्य महाछबि जैसी॥'* (ग) *'सब सयानी'* इति। सब सखियाँ सयानी हैं, यह बात आगे स्पष्ट की है। यथा—*'सुनि हरषीं सब सखीं सयानी। सिय हिय अति उत्कंठा जानी॥'* (२२९। ३) *'धरि धीरज एक आलि सयानी। सीता सन बोली गहि पानी॥'* (२३४। १) इत्यादि। पुनः, (घ) *'सुभग सयानी'* का भाव कि शरीरसे सुभग (सुन्दर) हैं और बुद्धिकी 'सयानी' (चतुर) हैं। सुन्दरताकी शोभा बुद्धिसे है। इसीसे 'सुभग' और 'सयानी' दोनों गुण कहे। यथा—*'जानि सुअवसर सीय तब पठई जनक बुलाइ। चतुर सखी सुंदर सकल सादर चलीं लवाइ॥'* (२४६) *'बनिता पुरुष सुंदर चतुर छबि देखि मुनि मन मोहहीं', 'संग सखी सुंदर चतुर गावहिं मंगलचार।'* (२६३) (ङ) अथवा, *'सुभग'* पद देकर *'सुभगा'* आदि सब सयानी सखियोंका सङ्गमें होना जनाया। पुनः, **सुभग**=सुन्दर ऐश्वर्यसे युक्त। *'सयानी'* से डील-डौल और अवस्थामें भी बड़ी सूचित किया। (मा० त० वि०)

टिप्पणी—२ *'गावहिं गीत मनोहर बानी'* इति। *'मनोहर'* देहली-दीपक है। मनोहर गीत मनोहर वाणीसे गाती हैं। ये गीत गिरिजापूजनसम्बन्धी हैं। [**मनोहर**=सुन्दर; मनको हर लेनेवाली। मुख्यार्थ यही है। परंतु, यह अर्थ भी ध्वनित होता है, '**मनो हर बानी**'=मानो सरस्वती (के भी मन) को मोहित कर लेती हैं। (अपने सुन्दर गीतसे) (पाँडेजी) वा, मानो हर और वाणी ही हैं जो गा रहे हैं। (गिरिजाके प्रसन्नार्थ) यथा—*'गावहिं जनु बहु बेष भारती।'* (३४५। ६) वा, (मानो) वाणी ही मनोहर गीत गा रही है। (पाँड़ेजी) अथवा, श्रीरघुवीर धीरके मनको हरनेवाली वाणीमें अर्थात् मालकोस रागमें मध्यम स्वरसे सुहागवर्धक गीत गाती हैं। [बै०]

नोट—१ सखियोंके नामोंके सम्बन्धमें पूर्व कुछ लिखा जा चुका है। बैजनाथजीका मत है कि श्रीचारुशीलाजी हाथमें सोनेकी झारी, लक्ष्मणाजी अर्घ्यपाद्यपात्र, हेमाजी हेमथालमें गन्ध-फूल-पत्र, क्षेमाजी धूप-दीपदानी, वरारोहाजी मधुपर्क, पद्मगन्धाजी फूलमाला, सुलोचनाजी छत्र और श्रीसुभगाजी चामर लिये हुए साथ हैं।

श्रीअगस्त्यसंहिता अध्याय ४९ श्लोक ५ से २८ में क्रमशः श्रीचारुशीलाजी, श्रीलक्ष्मणाजी, श्रीहेमाजी, श्रीक्षेमाजी, श्रीवरारोहाजी, श्रीपद्मगन्धाजी, श्रीसुलोचनाजी और श्रीसुभगाजी इन अष्ट सखियोंके माता-पिताके नाम, जन्मकी तिथि, नाम और गुण तथा सेवाका उल्लेख करके अन्तमें यह श्लोक दिया है '**अष्टाविति सख्यो मुख्या जानक्याः करुणानिधेः। एतेषामपि सर्वेषां चारुशीला महत्तमा॥**'(२८) अर्थात् ये श्रीजानकीजीकी मुख्य अष्ट सखियाँ हैं। इन सबोंमें श्रीचारुशीलाजी प्रधान हैं।

श्रीसाकेतरहस्यमें भी यही नाम दिये हैं। केवल क्रम दूसरा है। श्रीरामरसायन ग्रन्थ-विधान ३ विभाग ११में सखियोंके नाम भिन्न हैं और इस प्रकार हैं—*'जनकलली प्रगटी जबै जनकनगरमें आय। जनम लियो मिथिला तबै सकल सखी समुदाय॥ २९॥ यथायोग निमिकुल सदन लखि निज रुचि अनुसार। सुरी किन्नरी आदि बहु भई नरी सुविचार॥ ३०॥ ते सिय संग विनोदिनी वय गुण रूप समान। बालसखी हैं आठ वर प्यारी परम प्रधान॥ ३१॥ चन्द्रकला उर्वशी सहोद्रा कमला बिमला मानौ। चन्द्रमुखी मेनका सुरम्भा आठ मुख्य ये जानौ॥ प्यारी सखी विदेहसुता की बाल संगिनी सोहैं॥ … ३२॥ सप्त सप्त यूथेश्वरी इक इक सखि स्वाधीन । हैं सहस्त्रयूथेश्वरी प्रति अनुचरी प्रवीन॥ ३३॥'* (रामरसायनमें किस ग्रन्थसे यह लिया गया है,

इसका पता नहीं है। किसी टीकाकारने सखियोंके नामके सम्बन्धमें विशेष प्रकाश नहीं डाला है। जहाँतक खोजसे मिला लिखा गया।)

**सर समीप गिरिजागृह सोहा। बरनि न जाइ देखि मनु मोहा॥ ४॥**

अर्थ—सरके समीप गिरिजामन्दिर शोभित हो रहा है, वर्णन करते नहीं बनता, देखकर मन मोहित हो जाता है॥ ४॥

श्रीलमगोड़ाजी—१ ताजगंजके रौजेका भी यही क्रम है। हम पहिले देख चुके हैं कि मुगलदरबारके शिल्पकार इस वर्णनसे सम्भवत: अवश्य प्रभावित थे अन्तर केवल यह है कि—(क) ताजमें नदीके सम्बन्धसे सरोवर छोटा है, जिसमें नदी-जैसे जलाशयका आकर्षण कम न हो। (ख) ताजका बाग छोटा है और यहाँका बाग पार्क-सा है। २—ताजकी शिल्प कला **Indosara Senic** मुसलमानी और भारती कलाओंका सम्मिश्रण ही मानी जाती है।

***सर समीप गिरिजागृह सोहा***

प्राय: जलाशयके पास ही देवमन्दिर बनाये जाते हैं, यथा—'***दीख जाइ उपबन बर सर बिगसित बहु कंज। मंदिर एक रुचिर तहँ बैठि नारि तपपुंज॥***' (४। २४) '***तीर तीर देवन्ह के मंदिर। चहुँ दिसि तिन्ह के उपबन सुंदर॥***' (७। २९) तथा यहाँ '***सर समीप***"।' '***सर समीप गिरिजागृह सोहा***' इस कथनसे पाया जाता है कि यह तड़ाग दूसरा है इसके समीप गिरिजागृह है। '***बाग तड़ाग बिलोकि प्रभु***'—वाले तड़ागके पास गिरिजागृह नहीं कहा गया। वह तड़ाग फुलवारीके मध्यमें है—'***मध्य बाग सर सोह सुहावा***' (इतना मात्र कहा गया) और यह सर फुलवारीके बाहर (उस फुलवारी और तालाबसे अलग पर उसी बागके अंदर) है, यह इससे भी जाना जाता है कि आगे कवि लिखते हैं—'***एक सखी सियसंग बिहाई। गई रहीं देखन फुलवाई॥***' एवं '***चली अग्र करि प्रिय सखि सोई***' तथा '***कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि***' इत्यादि। इन उद्धरणोंसे इस सरका कुछ दूर होना प्रतीत होता है। दूसरे, उस सरोवरके निकट राजकुमार हैं। पुरुषोंके आमदरफ्त आने-जानेकी जगह, श्रीसीताजीका सखियोंसहित स्नान करना अनुचित होगा।—यह मत श्रीकरुणासिंधुजी, श्रीपाँड़ेजी और श्री पं० रामकुमारजी इत्यादिका है। पं० रामचरण मिश्र इससे सहमत होते हुए लिखते हैं कि 'इसका प्रमाण अगस्त्यसंहिताके उत्तरकाण्डमें है, यथा—'**वैदेहीपवनस्यान्तर्दिश्यैशान्ये मनोहरम्। विशालं सरसस्तीरे गौरीमन्दिरमुत्तमम्॥ वैदेहीवाटिका तत्र नानापुष्पसुगुम्फिता। रक्षिता मालिकन्याभि: सर्वर्तु सुखदा शुभा॥ प्रभाते प्रत्यहं तत्र गत्वा स्नात्वाऽऽलिभिस्सह। गौरीमपूजयत्सीता मात्राज्ञप्ता सुभक्तित:॥**' कहा जाता है कि वर्तमान कालमें भी वहाँ दो सर हैं।

पं० श्रीराजारामशरणजीका कथन है कि 'यदि दो सरोवर समझे जायँ तो नाटकीय कलावाली आँखमिचौनीका आनन्द चला जाता है। फिर साफ तो लिखा है कि '***मध्य बाग***' अर्थात् बागके बीचमें वह सरोवर था जहाँ श्रीराम-लक्ष्मणजी पहुँचे, गिरिजाजीका मन्दिर भी वहीं रहा होगा, कहीं कोनेमें नहीं।

श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि 'प्रभुके आगमनमें बाग-तड़ागवर्णनमें मन्दिरका वर्णन नहीं किया गया। कारण यह कि शृंगाररसका उद्दीपनविभाव वर्णन कर रहे थे। देवमन्दिर, गुरुजन, साधुजन, संत-कथा, ज्ञान-वैराग्य आदि शान्तरसके विभाव हैं जो शृङ्गारमें हानिकर्त्ता हैं। अतएव वहाँ देवमन्दिरका वर्णन अयोग्य होता। अब समय है, इससे अब कहते हैं।'

ग्रन्थकारकी शैली है कि जिस वस्तु वा विषयका वर्णन एकसे अधिक ठौर करना होता है, उसे सब ठौर न लिखकर एक ही ठौर लिख देते हैं। अथवा, उसमेंसे कुछ एक जगह और कुछ दूसरी जगह कहते हैं। वैसा ही यहाँ किया गया। फूल बागभरसे घूम-फिरकर लिये गये, इससे कुछ दूर होनेमें आश्चर्य ही क्या? आगे यह भी दिखायेंगे कि यहाँ पुरुष नहीं आने पाते; इसपर भी एक सखीका यह काम ही था कि वह देख लिया करे। श्रीराम-लक्ष्मणको रोकता कौन? उन्हें तो जो देखता है मुग्ध हो जाता है। वे तो सभीके आँखोंके तारे हैं, उसपर सभी तो इन्हें देखकर सोचते हैं कि '***बर साँवरो***

***जानकी जोगू।'*** सर भी बहुत बड़ा है। आज भी महोबाके सर इतने बड़े हैं कि एक दिशाकी ओरसे दूसरी तरफ देख नहीं सकते, इत्यादि बहस उन लोगोंकी है जो ***'मध्यबाग सर सोह सुहावा'*** वाले सरके पास ***'गिरिजा गृह सोहा'*** के पक्षमें हैं। दोनों पक्षोंकी बहसें माकूल हैं।

'प्रसन्नराघव नाटक' में भी एक ही सरका वर्णन है। उसमें श्रीराम-लक्ष्मणजीका गिरिजामन्दिरतक पहुँचना कहकर फिर तालाबका देखना कहा है। तालाबको देखकर उन्हें बहुत सुख प्राप्त हुआ है यथा **'रामः—(विलोक्य) कथमिदमितश्चण्डिकायतनम्। (अञ्जलिं बद्ध्वा) मातः···त्वान्नमस्यामि।'**(२।६) (पुनः अन्यतः अवलोक्य) **इयमसौ मदकलकलहंसोत्तंसितसितसरोजराजिराजिता सरसी सरसी करोति मे चेतः।'** तत्पश्चात् कलहंसोंको भागते देख यह समझा कि कोई आता होगा। तत्काल ही नूपुरादिका शब्द सुन पड़ा तब यह विचारकर कि पुरस्त्रियाँ गिरिजापूजनको आ रही हैं अतः हमें यहाँसे हट जाना चाहिये, दोनों भाई वहाँसे हट गये। **'परस्त्रीति शङ्कापि संकोचाय रघूणाम्'**— श्रीरघुनाथजी परस्त्रीकी शंकासे भी इतना सकुचाते हैं।

नोट—१ ***'गिरिजागृह'*** इति। संत श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि महाभागवत इतिहासमें ब्रह्माजीने श्रीरामजीसे कहा है कि **'शम्भोर्लोकस्य वामे तु गौरीलोको मनोरमः। विचित्रमणिमाणिक्यं सम्मोहैरतिशोभितः। तत्र या वैदिकी मूर्तिर्देव्या (देवी) दशभुजा परा। अतसीकुसुमाभासा सिंहपृष्ठनिषेदुषी॥'''** अर्थात् शिवलोकके वाम भागमें गौरीलोक है जो चित्र-विचित्र मणि-माणिक्योंसे सुशोभित होनेसे मनको हरण करनेवाला है। वहाँ जो वेदप्रतिपादित देवी है वह दस भुजावाली, श्रेष्ठ, अलसीपुष्पके समान श्यामवर्णा और सिंहवाहिनी है। यहाँ ***'गिरिजा'*** पदसे केवल अवतारीमात्र गिरिजा अभिप्रेत हैं, जिन्होंने हिमाचलके तपसे प्रसन्न होकर अवतार लेना स्वीकार किया था, हिमाचलके यहाँ जो पार्वती उत्पन्न हुईं, उनसे यहाँ तात्पर्य नहीं है। (हिमाचलकन्या गिरिजा भी हो सकती हैं जैसा पूर्व चौ० २ में दिखाया गया है। यहाँ भाविक अलङ्कार है।)

टिप्पणी—१ 'गिरिजागृहकी शोभा कही, पर सरकी शोभा न कही? कारण कि पूर्व एक तड़ागकी शोभा कह चुके हैं; यथा ***'मध्य बाग सर सोह सोहावा।···गुंजत भृंगा॥'*** यहाँ पुनः वर्णन न करके सूचित किया कि वैसी ही शोभा इस दूसरे सरकी भी है तथा जितने भी तड़ागादि जलाशय वहाँ हैं, उन सबोंकी शोभा ही है, यथा ***'बापी कूप सरित सर नाना। सलिल सुधासम मनि सोपाना॥ गुंजत मंजु मत्तरस भृंगा। कूजत कल बहु बरन बिहंगा॥ बरन बरन बिकसे बन जाता।'***—इस तरह आदि और अन्तके वर्णनसे बीचका वर्णन हो चुका।

टिप्पणी २—***'बरनि न जाइ देखि मन मोहा।'*** अर्थात् देखते ही बनता है, देखनेवालेका तो मन ही उसे देखकर मोह जाता है, उससे कहते नहीं बनता; तब बिना देखे कौन कह सकता है?

नोट—२ यहाँ देखना चारों वक्ताओंका है। महादेवजी और कागभुशुण्डिजीने देखा है। याज्ञवल्क्यजी जनक महाराजके गुरु ही हैं और गोस्वामीजी श्रीगुरु-हरि-हरप्रसादसे दिव्यचक्षु पाये हुए हैं, जिससे उनके हस्तामलक अनेक ब्रह्माण्ड हैं; यथा ***'सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुपुत प्रकट जहँ जो जेहि खानिक॥ तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन। बरनौं रामचरित भवमोचन॥'***—जब ये चारों वर्णन नहीं कर सकते तब और कौन वर्णन करेगा?

नोट—३ बैजनाथजी लिखते हैं कि 'यहाँ शृङ्गाररसमय-युद्धका वर्णन है। इससे दोनों तरफ बराबर सामान दिखाते जा रहे हैं, यह कविकी चातुरी है। उधर गुरुकी आज्ञा इधर माताकी आज्ञा।' उधर बन्धुसहित, इधर सखियोंसहित।

नोट—४ गिरिजामन्दिरका नाम 'चिन्तामणि मन्दिर' है। (रा० प्र०)

**मज्जन करि सर सखिन्ह समेता। गईं मुदित मन गौरि निकेता॥५॥**
**पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा। निज अनुरूप सुभग बरु माँगा॥६॥**

अर्थ—(श्रीसीताजी) तालाबमें सखियोंसहित स्नानकर प्रसन्न-मनसे गौरीजीके स्थानमें गयीं॥५॥ विशेष प्रेमसे पूजा की और अपने योग्य सुन्दर वर माँगा॥६॥

टिप्पणी—१ (क) *'मज्जन करि सर'* इति। सरमें स्नान करनेका भाव कि यह विधि है कि जिस देवताके पूजनको जाय, उस देवस्थानमें जो जलाशय हो उसे देवतीर्थ समझकर उसमें स्नान करे, अतः स्नान किया।* (ख) *'सखिन्ह समेता'* इति। देवमन्दिरमें बिना स्नान किये न जाना चाहिये और इन सब सखियोंको श्रीजनकनन्दिनीजूके पास ही रहना आवश्यक है, अतएव सबोंने स्नान किया। (ग) *'गईं मुदित मन गौरि निकेता'* इति। *'मुदित मन'* हो जाना स्नानका गुण है, यथा—*'मज्जन कीन्ह पंथश्रम गयऊ। सुचि जल पियत मुदित मन भयऊ॥'* (२। ८७) (घ) मज्जनसे बाह्य-शुद्धि और मुदित-मनसे अन्तर-शुद्धि कहते हैं। तात्पर्य कि भीतर-बाहर शुद्ध होकर भगवतीके पास गयीं जैसे श्रीरामजी भीतर-बाहर शुद्ध होकर गुरुके पास गये थे—*'सकल सौच करि जाइ नहाए। नित्य निबाहि मुनिहि सिर नाए॥'* (२२७। १) *'सकल सौच'* से बाह्य-शुद्धि और *'नित्य निबाहि'* से अन्तरशुद्धि जनायी। (ङ) *'मुदित मन'* से यह भी जनाते हैं कि गौरीपूजनमें बड़ी श्रद्धा है, बड़ा उत्साह है। यही बात आगे कहते भी हैं—*'पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा'।* [यह मङ्गलसूचक शकुन भी है—*'होइहि काजु मोहि हरष बिसेषी'* मनोरथ पूर्ण होगा। *'गौरि निकेता'* का भाव कि जिसका नाम ही चिन्तामणि-मन्दिर है, उसकी स्वामिनी हमारा मनोरथ क्यों न पूर्ण करेंगी। इस विचारसे भी *'मुदित मन'* कहा। (रा० प्र०)]

श्रीलमगोड़ाजी—१ कविकी संकेतकला देखिये। सखियाँ साथ हैं, कुछ क्रीड़ा हुई होगी। जिससे सब मुदित मन हो गयीं। मलिक मुहम्मदजायसीने पद्मावतिमें जलक्रीड़ाका बहुत विस्तार किया है, परंतु तुलसीके शुद्ध शृङ्गारमें उतनी स्वच्छन्दताकी कल्पना भी न करनी चाहिये। ☞हमारे कविकी शैली ही यह है कि ऐसे विषयोंको, कि जहाँ कुछ भी मर्यादा-अवलंघनकी सम्भावना होती है, बहुत ही संक्षिप्त रखते हैं, या केवल संकेत कर देते हैं जैसे सुमन्तसे लक्ष्मणवाले क्रोधकी बातचीत।

२ *'निज अनुरूप सुभग बर माँगा'* इति। यहाँ बड़ी सुन्दर दोरुखी तसवीर है। *'निज'* को 'सौन्दर्यगौरव' के अनुभवके रूपमें पढ़िये, तो *'सुभग'* के साथ वह यह बताता है कि इसीके अनुसार सुभग *'बर'* की प्रार्थना है। यदि लज्जाभाव-(नम्रता-) के साथ पढ़िये, तो यह विदित होता है कि उचितसे अधिक भगवतीसे नहीं माँग रही हैं। सीता-जैसी शीलवान् कन्यामें दूसरा (अर्थात् लज्जा) भाव ही प्रबल है, मगर *'सुभग'* बता रहा है कि पहिला (अर्थात् सौन्दर्य गौरव) भाव भी गुप्तरूपसे काम कर रहा है। मेरे मित्र और सहकारी 'सेहर' जीका एक पद मुझे इस प्रसंगमें बहुत याद आता है, कारण कि उसमें भी दो विरोधी भावोंका एकीकरण है—*'आह यह जोशे मसर्रत यह तकाजाये खंदा। जेरे लबे हया निगहे नाज शरमाई हुई॥'* प्रार्थनाके शब्दोंका जोरके साथ उच्चारण नहीं है, इसीसे कवि अपने शब्दोंमें उसका वर्णन करता है। देवीके सामने शुद्ध हृदयके साथ प्रार्थना अमर्यादित कैसे कही जा सकती है? देखिये—*'राम कहा सब कौसिक पाहीं। सरल सुभाउ छुआ छल नाहीं॥'* स्त्रियोंमें-लज्जाभाव अधिक है, इससे यहाँ गुप्त प्रार्थना है, फिर भी रामदर्शनके बाद *'जय जय...'* वाली स्तुतिमें जबान (रसना) भी खुल ही गयी।

टिप्पणी—२ *'पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा।...'* इति (क) देवता अनुरागसे ही प्रसन्न होते हैं, यथा—'**भावमिच्छन्ति देवताः**', *'सुर साधु चाहत भाव सिंधु कि तोष जल अंजलि दिये।'* पूजनकी समस्त सामग्रियोंमेंसे अनुरागरूपी सामग्रीको इसीसे अधिक माना गया है। बिना अनुरागके सामग्री कितनी भी क्यों न हो, उस पूजाको देवता स्वीकार नहीं करते,—*'मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा।'* (ख) अनुराग तो और दिन भी रहता था पर आज अधिक है, यह भी जनाया। 'आज अधिक अनुरागसे पूजा करनेका कारण यह है कि धनुष टूटनेकी प्रतिज्ञा एक वर्षकी थी, उसमें अब एक ही दिन रह गया है, इससे

* श्रीलमगोड़ाजीका मत है कि 'मज्जनमें मुँह-हाथ धोना और मानसिक संकल्पके साथ कुछ जल ऊपर छिड़कना काफी है। पूजा करने जब बड़े घरोंकी स्त्रियाँ जाती हैं तब स्नान घरहीसे करके प्रायः जाती हैं। बाहर स्नान ऐसे समयमें कि जब धनुषयज्ञके कारण चारों ओर समारोह है ठीक नहीं—(पर यह बाग कोटके भीतर है)।

राजपुत्रीको व्याकुलता हुई, अतएव अधिक अनुरागसे पूजा की।'—(पाँड़ेजी) (ग) *'निज अनुरूप सुभग बर माँगा'* इति। बर=पति। इसीसे पति-प्राप्तिका आसिष गौरीजीने दिया है, यथा—*'मन जाहि राच्यो मिलिहि सो बर सहज सुंदर साँवरो।'* [पाँड़ेजीका मत है कि 'यहाँ *'बर'* का अर्थ 'वरदान' श्रेष्ठतर है, क्योंकि *'पति'* का अर्थ लें तो लोकमर्यादाके विरुद्ध रीति जान पड़ती है'। 'सुभग=सुन्दर, ऐश्वर्यवान्'। लमगोड़ाजीने ठीक ही लिखा है कि 'प्रार्थनाका जोरसे उच्चारण नहीं हुआ है। कवि अपने शब्दोंमें उसे वर्णन कर रहा है। यह शुद्ध हृदयकी प्रार्थना अमर्यादित नहीं कही जा सकती। पुनः, *'मोर मनोरथ जानहु नीकें'* जो आगे कहा है वह भी प्रमाण है कि वर मन-ही-मन माँगा गया।]

टिप्पणी—३ प्रार्थना की तो वर भी अवश्य देना चाहिये था? पर यहाँ गौरीने आसिषा नहीं दी। क्यों? क्योंकि नारदजीका वचन है कि जिसमें सीताजीका मन अनुरक्त हो जायगा, रच (रँग) जायगा, जिसे वे चाहेंगी वही वाञ्छित *'बर'* उनको मिलेगा, यथा—*'नारद बचन सदा सुचि साँचा। सो बरु मिलिहि जाहि मनु राचा॥'* (यह बात पार्वतीजीको भी मालूम है, इसीसे उन्होंने इस समय वर नहीं दिया, वरंच एक सखीको प्रेरितकर फुलवारीमें भेज दिया कि वह राजकुमारोंको देखकर इनको उनका दर्शन कराके तब यहाँ पुनः ले आवे; ऐसा अनुमान किया जा सकता है। अतएव जब वे फुलवारीमें जाकर श्रीरामजीको देख उनमें अनुरक्त हो, उनको हृदयमें रखकर, उनको मन-ही-मन (वर-रूपसे) स्वीकारकर भवानीके मन्दिरमें गयीं तब *'मन जाहि राचेउ'* उसी 'वर' की प्राप्तिका आशीर्वाद पार्वतीजीने दिया जिसे सुनकर श्रीजानकीजी मनमें बहुत हर्षित हुईं। यथा—*'जानि गौरि अनुकूल सिय हिय हरषु न जाइ कहि'।* यदि बिना रामजीके देखे प्रथम ही आसिष देती कि तुमको रामजी मिलेंगे तो श्रीसीताजीको इतना हर्ष न होता। क्योंकि (माधुर्यमें) वे अभी नहीं जानतीं कि श्रीरामजी कैसे हैं। (निज अनुरूप हैं या नहीं।)

**एक सखी सिय संगु बिहाई। गई रही देखन फुलवाई॥ ७॥**
**तेहि दोउ बंधु बिलोके जाई। प्रेम बिबस सीता पहिं आई॥ ८॥**

अर्थ—एक सखी श्रीसीताजीका साथ छोड़कर फुलवाड़ी देखने गयी थी॥ ७॥ उसने जाकर दोनों भाइयोंको देखा। प्रेमसे बेबस (विह्वल) होकर वह श्रीसीताजीके पास आयी॥ ८॥

नोट—१ कलाका कौशल देखिये कि जाते समय कविने नहीं बताया, नहीं तो हमारा ध्यान बट जाता। और, न बतानेका कैसा सुन्दर कारण दिया है कि *'सिय संग बिहाई';* उसे फुलवारी देखनेकी सूझी थी, वह चुपकेसे ही खिसक गयी होगी। गानके उमंगमें वहाँ किसीने ध्यान न दिया होगा। (लमगोड़ाजी) चुपके खिसक गयी, इसीसे वहाँ कवि भी चुप साध गये, जब प्रेममें विह्वल हो सामने आयी तब जाना कि कहीं गयी थी, इसीसे तब आपने भी प्रकट किया।

देखिये श्रीसीताजी जनक-जैसे योगिराजकी कन्या हैं, इससे शान्तरस प्रधान है। कवि पहिले 'बूय गुल' (पुष्पकी सुगंध), कैसी सुन्दर युक्तिसे पहुँचाता है कि उससे बसी हुई सखीको लाकर उत्कण्ठा उत्पन्न करेगा। *'बासने'* के लिये ऐसी ही सखीकी आवश्यकता थी जिसे फुलवारी देखनेमें पूजासे अधिक रुचि हो; अर्थात् जिसे शृंगाररस प्रिय हो। हलकी चीज बस जाती है जैसे कत्था, मगर पत्थर नहीं बासा जा सकता। (लमगोड़ाजी)

नोट—२ *'एक सखी सिय संगु बिहाई'* इति। *'एक'* कहकर जनाया कि शेष सब सखियाँ श्रीकिशोरीजीके साथ मन्दिरमें हैं। पाँड़ेजीका मत है कि *'एक'* से जनाया कि यह सबमें प्रधान है। प्रधान होकर साथ छोड़कर चली जाय, यह तो माना नहीं जा सकता। अतएव यह निश्चय है वह भूलसे या अपने मनसे राजकुमारीको छोड़कर कभी न गयी होगी। सब सखियाँ सयानी हैं। सयानी ऐसा कदापि नहीं कर सकती। इससे जान पड़ता है कि इसको सदाहीसे यह आज्ञा है, यही इसका काम है कि वह जाकर देख लिया करे कि वहाँ कोई पुरुष तो नहीं है।

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि (१) सखी सयानी है; इसीसे अवकाश पाकर गयी। जब श्रीसीताजी सखियोंसहित स्नान करके मन्दिरमें गयीं, तब यह जानकर कि अब इनके साथ रहनेकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं है, पूजा करानेके लिये बहुत सखियाँ संगमें हैं ही, फुलवारी देखने गयी कि देखें वहाँ कोई है तो नहीं; कदाचित् श्रीजनककिशोरीजी वाटिका देखनेकी इच्छा करें तो उनको उधर ले चलना होगा। अथवा, (२) जैसे श्रीजानकीजी यहाँ विधिवश, दैवयोगसे आयीं, वैसे ही यह सखी भी दैवयोगसे फुलवारी देखने गयी जिसमें श्रीरामजीको देखकर यह श्रीजानकीजीको ले आवे। अथवा, (३) यह फुलवारी देखने ही योग्य है। सबको इसके देखनेकी इच्छा होती है अर्थात् बहुत सुन्दर है—*'परम रम्य आराम यह'।* अतः देखने गयी।

पूर्व सखियोंको *'सयानी'* कहा था। अब यहाँ सयानपना दिखाते हैं कि वह साथ छोड़कर फुलवारी देखने गयी। जब सबको मन्दिरमें पहुँचा दिया कि जबतक ये पूजा करेंगी तबतक मैं देखकर लौट आऊँगी। देखने क्यों गयी? इसपर और भी अनेक अनुमान लोगोंने किये हैं जैसे कि—(१) जिधर फल-फूलादि अधिक सुन्दर हों उधर राजकिशोरीको ले चलूँ। (२) यदि कोई पुरुष वहाँ हो तो उसे बाहर करा दें। (३) नारदजीने फुलवारीमें प्रिया-प्रीतमकी भेंट होना पूर्व ही कह रखा था और आज अन्तिम दिन है, अवश्य आज भेंट होनी चाहिये, यह सोच-समझकर राजकुमारोंका पता लेने आयी कि आये तो नहीं हैं। (मा० त० वि०) वा, फुलवाटिकामें इनका आना सुना है अतः देखने गयी। (पाँड़ेजी); इत्यादि।

पुरुषोंको देखा तो निकाला क्यों नहीं? इसका कारण कह आये हैं कि वह तो स्वयं विह्वल हो गयी, कहता कौन और क्या? और यदि उन्हींकी खोज थी तब तो वह अपनी ही निधि हैं, जिसकी तलाश थी वह स्वयं ही आ मिला।

नोट—३ *'एक सखी'* इति। यह सखी कौन है, इसमें मतभेद है। सत्योपाख्यानके **'तत्राहं च भविष्यामि नाम्ना सीता च भूतलात्। तत्र त्वं सुभगा नाम्ना सखीत्वं मे प्रयास्यसि॥'** इस आधारपर इसका नाम सुभगा कहा जाता है। रास-समय महारानीका मान होनेपर श्रीसुभगाजीने ही दूतीका काम किया है—**'श्रुत्वा वाक्यं तु सीताया जहास सुभगा सखी।'** (सत्योपा० उत्तरार्ध २५। २२) मा० त० वि०, बैजनाथजी और पं० रामकुमारजीका यह मत है। अथवा, *'एक'* सखीसे श्रीचारुशीलाजीका संकेत है। क्योंकि ये श्रीसीतारामरहस्यकी जाननेवाली हैं। प्रिया-प्रीतमका मानसी स्वयंवरद्वारा मनोविलासका परस्पर संयोग कर देनेका काम इन्हींका है। (मा० त० वि०), इत्यादि। मा० त० वि० कार, रा० च० मिश्र और बैजनाथजीने प्रमाण भी दिये हैं। दो-एकने अपनी शृङ्गाराचार्याको ही यह सखी कहा है पर कोई प्रमाण नहीं दिया है।

टिप्पणी—१ *'तेहि दोउ बंधु बिलोके जाई।'* इति। (क) दोनों भाइयोंको देखा; इससे पाया गया कि दोनों भाई एक ही जगह फूल तोड़ रहे थे, क्योंकि यदि वे अलग-अलग होते तो सघन बागमें एकहीको देखती, दोनोंको न देख सकती। (ख) *'जाई'* का भाव कि बाग बहुत सघन है। जब समीप गयी तब दर्शन हुआ। [वा, 'जाई'=फुलवारीमें जाकर। संग छोड़ फुलवारीमें गयी, वहाँ जाकर देखा।] (ग) प्रेम बिबस=प्रेमके विशेष वश होकर। ☞रामरूपके दर्शनसे प्रेमकी उत्पत्ति होती है; यथा—*'भए सब सुखी देखि दोउ भ्राता।'''*, (जनकादि), *'देखि राम छबि अति अनुरागीं। प्रेम बिबस पुनि पुनि पग लागीं॥'*, *'भए बिदेह'''*, *'देखत रघुनायक''अति प्रेम अधीरा।'* (अहल्या), इत्यादि। प्रेम-विवशताकी दशा आगे कवि स्वयं लिखते हैं। (घ) *'सीता पहिं आई'* इति। श्रीसीताजीको छोड़कर गयी थी, इसीसे उन्हींके पास आयी। अपना आनन्द उनसे कहनेके लिये आयी। ☞प्रेममें विह्वल हो गयी है, तब भी लौटकर सीताजीके पास पहुँच गयी [कि यह अपूर्व दर्शन उनको भी करावें। 'यह सुख-विशेष, यह अपूर्व पदार्थ उन्हींके भोग करने योग्य है'। ☞भगवद्भक्त उत्तम-उत्तम वस्तु सदा अपने उपास्यदेवके लिये ही रख देते हैं, स्वयं ही उसे नहीं भोग करते।]—इससे इस सखीकी धीरता और सावधानता पायी जाती है। कारण कि जो प्रेमके वश हो जाते हैं उनको अपनी देहकी खबर नहीं रह जाती, वे कुछ काम नहीं कर सकते। यथा—*'देखि भानुकुल भूषनहिं बिसरा सखिन्ह अपान।'''*, *'मूरति मधुर मनोहर देखी। भयेउ बिदेहु बिदेहु*

*बिसेषी॥'* (२१५। ८) *'जाइ समीप राम छबि देखी। रहि जनु कुअँरि चित्र अवरेखी॥'* (२६४। ४) और यह सखी उनको देखकर तुरत लौट आयी।

☞ लमगोड़ाजी—कविकी संकेतकला देखिये। जहाँ ऐसी शृङ्गारप्रिय सखीमें इतनी मर्यादा है, वहाँके श्रेष्ठ श्रेणीके स्त्री-पुरुषोंकी मर्यादाका क्या कहना।

श्रीराजारामशरणजी—'दोउ'। 'उ' का संकेत कितना सुन्दर है। जनकपुर-भ्रमण कितना सार्थक हो गया है। राजकुअँर अब वहाँ अपरिचित व्यक्तियाँ नहीं हैं जैसा कि *'बरनत छबि जहँ तहँ सब लोगू'* से और भी स्पष्ट हो जायगा।

**दो०—तासु दसा देखी सखिन्ह पुलक गात जल नयन।**
**कहु कारनु निज हरष कर पूछहिं सब मृदु बैन॥ २२८॥**

अर्थ—उसकी दशा सखियोंने देखी कि अङ्गोंमें पुलकावली हो रही है, नेत्रोंमें जल है। सब कोमल वाणीसे पूछ रही हैं कि अपने आनन्दका कारण कह॥ २२८॥

श्रीराजारामशरणजी—१ फारसीके मसले *'सूरत बबीं हालम मपुर्स'* (सूरत देख ले मेरा हाल न पूछ) का कैसा अच्छा नमूना है? भाव-चित्रण कितना सुन्दर और सूक्ष्म है? २—*'सब'* शब्द बता रहा है कि सभीको उत्कण्ठा है, सब एक साथ पूछती हैं। रंगमंचपर एक साथ पूछनेके चौंका देनेवाले प्रभावको विचार कीजिये, दर्शक भी उत्कण्ठित हो जाते हैं। नाटकीय कला कितनी उत्तम है?

नोट—१ बैजनाथजी लिखते हैं कि यह प्रेमकी बारह दशाओंमेंसे पहली उक्त दशा है। प्रभुको देखते ही प्रेमानन्दमें डूब गयी और किसी बातकी सुधि न रह गयी।

टिप्पणी—१ प्रथम कहा कि सखी *'प्रेमबिबश'* है, अब प्रेमकी दशा कहते हैं कि *'पुलक गात जल नयन'* है, सब पूछती हैं, इससे पाया गया कि उसके मुखसे वचन नहीं निकलता। यदि वह बोल सकती होती तो एकहीके पूछनेसे कहती, सबोंको पूछना ही क्यों पड़ता? मुँहसे वचनका न निकलना भी प्रेमकी दशा है। यथा—*'अति प्रेम अधीरा पुलक सरीरा मुख नहिं आवै बचन कही'* (अहल्या १। २११), *'पुलकित तन मुख आव न बचना'* (श्रीहनुमान्‌जी ४। २), *'प्रेम बिबस मुख आव न बानी'*, इत्यादि। *'देखी सखिन्ह'* और *'पूछहिं सब'* से जनाया कि सीताजी पूजामें दत्तचित्त थीं, उन्होंने उसकी अवस्था नहीं देखी।

टिप्पणी—२ *'पूछहिं सब मृदु बैन'* इति। सब-की-सब पूछती हैं, यह स्त्रीस्वभाव है। प्रेमकी दशामें *'पुलक गात जल नयन'* कहा, वचन नहीं निकलता यह नहीं कहा; क्योंकि यह दशा *'सब पूछहिं'* के भीतर आ जाती है; इतनेहीमें आशयसे सब समझ सकते हैं। (पूछनेका प्रयोजन श्रीसीताजीका ध्यान आकर्षण करनेके लिये भी है।)

टिप्पणी—३ *'मृदु बैन'* इति। कोमल वाणीसे पूछनेके कारण ये हैं—(क) प्रेममें कठोर वचन बोलनेसे हृदयपर बड़ा आघात पहुँचता है जिससे मृत्यु हो जानेकी सम्भावना होती है। वा, (ख) प्रेमकी नवीं दशा पहुँच गयी है, कठोर वचनोंसे दसवीं दशा मृत्यु हो जाती। वा, (ग) मनका भेद लेना है। मीठे कोमल वचन बोले जिसमें अपने हर्षका कारण कहे, नहीं तो वह क्यों कहने लगी? वा, [(घ) जिसमें सीताजी न सुनें, नहीं तो इसकी दशा देखकर वे घबरा जायँगी। वा, (ङ) श्रीसीताजी श्रीगौरीजीके ध्यानमें हैं, उनके ध्यानमें विघ्न न पड़े। वा, (च) उसकी दशा देख सभी प्रेमसे विह्वल हो गयी हैं, इससे सबका बोल नरम पड़ गया है। (पाँड़ेजी) (छ) कठोर बोलनेसे कोई साधारण बात भी नहीं कहता फिर अपने अन्तःकरणका हर्ष क्यों कहने लगा। (रा० प्र०)]

नोट—२ इस दोहेमें हर्षकी पहचानके लिये केवल दो चिह्न बताये गये हैं, एक तो *'पुलकगात'* दूसरा *'जल नयन।'* और ये दोनों दुःख और भय आदिमें प्रायः होते हैं, सुखमें विरलेहीको होते हैं, फिर सखि-समाजने इन चिह्नोंसे हर्ष ही क्यों साबित किया, इस प्रश्नको उठाकर पं० रा० च० मिश्र उसका उत्तर यह देते हैं कि 'दुःखमें करुणरस प्रधान है। अतः उसमें आँसू उष्ण, पुलकमें त्वचा सिकुड़ी और साथ ही विषादादिक

चिह्न होते हैं। और हर्षमें अद्भुतरस प्रधान है जिसमें आँसू शीतल, रोमाञ्चमें त्वचाका फुलाव और तनाव और साथ ही नेत्र और मुखमें विकासादि हर्षके चिह्न होते हैं। दोनोंमें बड़ा अन्तर है। यह सखी अद्भुत रससे भरे शृङ्गार-रसमें लीन होकर मतवाली है।' (इससे भी *'सयानी'* विशेषण चरितार्थ हो रहा है।)

**देखन बागु कुअँर दुइ[1] आए। बय किसोर सब भाँति सुहाए॥ १॥**
**स्याम गौर किमि कहउँ बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥ २॥**

अर्थ—दो (राज) कुँवर बाग देखने आये हैं। किशोर अवस्था है। सब प्रकारसे सुन्दर सुहावने हैं॥ १॥ एक साँवले हैं और एक गोरे। कैसे (उनका) बखानकर कहूँ? (क्योंकि) वाणीके नेत्र नहीं हैं और नेत्रके वाणी नहीं है॥ २॥

टिप्पणी—१ *'देखन बागु'*। बागमें देख आयी है इसीसे कहती है कि बाग देखने आये हैं। [फूल उतारना न कहा क्योंकि सयानी है। ऐसा कहनेसे संभावना थी कि वे समझतीं कि कोई मालीके लड़के हैं जिससे उनके दर्शनकी उत्कण्ठा न होती। अतएव उत्कण्ठा बढ़ानेके लिये *'देखन बागु'* कहा। (पाँड़ेजी) संभव है कि जिस समय उनपर दृष्टि पड़ी उस समय फूल न तोड़ रहे हों क्योंकि फूल भी तो घूम-फिरकर उतारे जाते हैं। अथवा, वह तो माधुरी मूर्ति ही देखकर मुग्ध हो गयी है, रूप छोड़ दूसरी ओर उसका ध्यान ही कब जा सकता था?] राजकुमार बागकी सैर करते ही हैं, उनको फुलवारी देखना ही चाहिये, वे बागमें जाकर फूल भी तोड़ें तो यह नहीं कहा जायगा कि फूल तोड़ने आये, बाग देखना ही कहा जायगा। बागकी सैर राजाओंका स्वभाव है; यथा—*'तेहि अवसर आए दोउ भाई। गए रहे देखन फुलवाई॥'* (२१५। ४) *'सुंदर उपबन देखन गए।'* (७। ३२) तथा यहाँ कहती है कि *'देखन बागु'''।'*

नोट—१ नाटकीय कलामें अंदाजा (अटकल) और वास्तविकताका अन्तर बहुत ही सुन्दर होता है। भावनिरीक्षणमें इसीको नाटकीय सत्त्व कहते हैं। सच है, सखी कैसे अंदाजा कर सकती थी कि राजकुमार फूल तोड़ने आये होंगे, वह तो बागकी सैर ही कारण समझती है। (श्रीलमगोड़ाजी)

टिप्पणी—२ (क) *'कुअँर दुइ आए'* इति। *'कुअँर'* कुमारहीके लिये प्रयुक्त होता है, चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो जाय। यहाँ भी *'कुअँर'* से राजकुमार ही बताती है, उनके रूपसे इसने जान लिया कि ये राजकुमार हैं। राजकुमार कहा जिसमें इनके देखनेकी उत्कण्ठा श्रीजनककिशोरीजीको हो, राजकुमार न होनेसे वे क्यों देखने जाने लगीं? फुलवारीमें दोनों भाइयोंको देखा है—*'तेहि दोउ बंधु बिलोके जाई',* इसीसे *'कुअँर दुइ आए'* कहा। (ख) *'बय किसोर सब भाँति सुहाए।'* बिना अवस्था जाने उनके सामने जानेमें संकोच होता कि न जाने उनकी क्या उमर हो, सयानेको देखकर लज्जा आती है। अतएव अवस्था भी कहती है। (ग) *'सब भाँति सुहाए'* अर्थात् भूषण, वस्त्र, लक्षण, अवस्था, शरीर, वर्ण, शोभा, तेज, सुकुमारता इत्यादि सब प्रकारसे सुन्दर हैं। [इससे उनको शोभाकी सीमा जनाया। पुनः, सम्पूर्ण सामुद्रिक उत्तम राज्य-लक्षणोंसे सम्पन्न बताया। (पाँड़ेजी) ☞ इस अर्धालीमें गुप्त रीतिसे श्रीसीताजीके सम्बन्धकी पूर्ण योग्यता सूचित की गयी है। भाव यह कि जैसी सियाजू **'सर्वलक्षणसम्पन्ना नारीणामुत्तमा।'** (वाल्मी० १। १। २७) हैं वैसे ही ये भी **'सर्वगुणोपेतः'** (वाल्मी० १। १। १७), सर्वगुणसम्पन्न हैं। पूछती क्या हो, चलकर देखो। *'सुहाए'* अर्थात् सब अङ्गोंमें क्षण-क्षणपर नवीन शोभा सरसा रही है।] (घ) *'किमि कहउँ बखानी'* इति। किशोरावस्था कही, श्याम-गौर वर्ण कहा, शोभा कही कि *'सब भाँति सुहाए'* हैं। इतना मात्र कहकर कहती है कि *'किमि कहउँ बखानी।'* क्योंकि समय नहीं है। विस्तारसे रूपका वर्णन करनेमें विलम्ब हो जायगा, इतनेमें राजकुमार फूल लेकर चले न जायँ।

**'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' इति।—**

'जो आँखों देखा जाता है वह जिह्वासे यथार्थ कहा जाता है। यदि वाणीके नेत्र होंगे तो वह (वाणी)

---

[1] दोउ—को० रा०।

वही कहेगी जो उसने देखा है और यदि नेत्रोंको वाणी भी हो जाय तो नेत्र देखकर वाणीसे वही कहेंगे, तब फिर *'गिरा अनयन'* और *'नयन बिनु बानी'* दोनों क्यों कहा? पुनः, जब वाणीके नेत्र होंगे तब वह और कुछ न कहेगी, जो नेत्रसे देखा है वही कहेगी, यह कैसे?'

पं० रामकुमारजी इस शंकाका समाधान यह करते हैं कि—(१) यह कथन सहेतुक है। यह सखीकी चतुराई है। श्रीजानकीजीकी उत्कण्ठा बढ़ानेके लिये उसने इस युक्तिसे शोभा कही, जैसा कि आगेके *'सुनि हरषीं सब सखीं सयानी। सिय हियँ अति उतकंठा जानी॥'* इससे स्पष्ट है। [(२) धर्मव्याधके प्रसंगमें वाराहपुराणमें इसी अर्थके शब्द आये हैं। धर्मव्याधकी परीक्षाके लिये इन्द्र व्याधा बने और अग्निको वाराह बनाया। वाराह धर्मव्याधके सामनेसे निकल गया तब व्याधारूपधारी इन्द्र उनके पास आकर खड़ा हो गया और उनसे पूछा कि तुमने हमारा शिकार देखा है? उन्होंने विचार किया कि यदि बताते हैं तो हिंसा होती है और यदि कहें कि नहीं देखा है तो असत्यजनित पाप होता है। यह विचारकर उन्होंने इसी युक्तिसे अपने धर्मकी रक्षा की। वे बोले—] कि **'द्रष्टुं चक्षुर्निहतं जंगमेषु जिह्वा वक्तुं मृगयोस्तद्धि स्त्रष्टम्। चक्षुर्दृष्टं नास्ति जिह्वे ह वक्तुं जिह्वाया स्याद्वक्तियैर्नास्ति चक्षुः॥'** (वाराहपुराण धर्मव्याधप्रसंग)* (३) सखियाँ पूछती हैं कि *'कहु कारन निज हरष कर'* इसीसे वह प्रथम यही कहती है कि *'गिरा अनयन'* है। इस कथनसे पाया जाता कि इसने दोनों राजकुमारोंको आँखों नहीं देखा है किसीसे उनकी शोभा सुनी है, अतएव इस संदेहके निवारणार्थ फिर यह भी कहा कि *'नयन बिनु बानी'* है। तात्पर्य कि नेत्रोंने देखा है पर वे कह नहीं सकते। जिसकी वाणीमें नेत्र हों और नेत्रोंमें वाणी (वाक्यशक्ति) हो वही यथार्थ कह सकता है।

नोट—२ श्रीरामजीके रूप-सौन्दर्यादि अपार और अकथनीय हैं। *'किमि कहौं बखानी'* अर्थात् क्या कहूँ, देखने ही योग्य हैं, देखते ही बने हैं। शोभा अकथनीय है। वर्णन न कर सकनेका कारण ऐसी उत्तम रीतिसे समर्थन करनेमें 'काव्यलिंग अलङ्कार' है। भुशुण्डिजीने भी शोभाके बारेमें ऐसा ही कहा है, यथा—*'प्रभु सोभा सुख जानहिं नयना। कहि किमि सकहिं तिन्हहिं नहिं बयना॥'* (७। ८८) सूरभ्रमरगीतसारमें भी ऐसा ही वर्णन आया है। यथा—*'अलि हो कैसे कहौं हरिके रूप रसहि। मेरे तनमें भेद बहुत बिधि रसना न जानै नयनकी दसहि॥ जिन्ह देखे ते आहिं बचन बिनु जिन्है बचन दरसन न तिसहि। बिनु बानी भरि उमगि प्रेम जल सुमिरि वा सगुन जसहि॥ बार बार पछितात यहै मन कहा करै जो बिधि न बसहि। सूरदास अंगन की यह गति को समुझावै पाछ पद पसुहिं॥'*

नोट—३ *'स्याम गौर'''बानी'* भाव यह कि 'अवस्थातक तो कहना बनता है जैसा कह चुकी कि *'बय किसोर सब भाँति सुहाए।'* पर श्याम-गौर मैं कैसे कह सकती हूँ। क्योंकि गिराके समान अदृश्यरूप है और नयनका निःशब्दरूप है। अथवा, गिरा भी अनयन हो रही है अर्थात् अदृश्य दशामें प्राप्त है एवं नयन निःशब्दभावमें प्राप्त हैं। (मा० त० वि०)

वि० त्रि०—भाव यह है कि सखी प्रेमसे शिथिल है। उसकी ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियका सम्बन्ध भी शिथिल हो गया है। उसे स्पष्ट अनुभव हो रहा है कि आँखोंने देखा है, उनमें यदि प्रकाश करनेकी शक्ति होती तो सम्भव है कि उस शोभाको व्यक्त कर सकती।'''

बैजनाथजी लिखते हैं कि 'मन और चित्त वाणीके नेत्र हैं और सुबुद्धि वाणीका नेत्र है। जब नेत्र कोई पदार्थ देखते हैं तब बुद्धि उसकी उपमानादि कल्पित करती है और वाणी मन-चित्तरूपी नेत्रोंसे देखकर वर्णन करती है। पर मेरी बुद्धि तो राजकुमारोंको देखते ही भोरी हो गयी। इससे नेत्र बिना वाणीके

---

* यह श्लोक अशुद्ध है। वाराहपु० इस समय पास न होनेसे शुद्ध श्लोक नहीं दिया जा सकता। एक श्लोक इसी आशयका देवीभागवतमें व्याध और सत्यव्रतके आख्यानमें 'ऐं' बीजकी उत्पत्तिके प्रसङ्गपर भी है। यथा—'या पश्यति न सा ब्रूते सा ब्रूते या न पश्यति। अहो व्याध स्वकार्यार्थिन् किं पृच्छसि पुनः पुनः॥' (पं० कालीप्रसादजी शास्त्री, संस्कृत-सम्पादक)

हो गये। पुनः मोहनी डालकर मन हर लिया और चितवनके कटाक्षसे चित्त चुरा लिया, इससे वाणी बिना नेत्रकी हो गयी। अतएव उन श्याम-गौरकी शोभा कैसे कहूँ?'

श्रीलमगोड़ाजी—देखिये, यहाँ एक ओर तो हर्ष जबान बंद करता है और दूसरी ओर सबका पूछना और सखीका स्वयं श्रीसीताजीके पास इसी हेतुसे आना—यह चाहता है कि राजकुमारोंका वर्णन किया जाय, इस संघर्षका आनन्द लीजिये और कविकी कलाकी सराहना कीजिये।

पहली कोशिशमें *'कुअँर दुइ'* निकला। *'दुइ'* का संकेत कितना उत्तम है, बहुत शब्द बच जाते हैं। खैर, यहाँ *'देखन बाग कुअँर दुइ आए'* इतना तो कह सकी पर जब सौन्दर्यके वर्णनका उद्योग किया तब मुग्धता भी बढ़ी और नतीजा (फल) यह हुआ कि केवल *'बय किसोर'* ही निकला और जबान बंद होते-होते *'सब भाँति सुहाए'* कहकर रह गयी। फिर तीसरी बार कोशिश की, तो *'स्याम गौर'* निकला। बार-बार कोशिश की, निष्फलताके कारण सखी भी सोचने लगी कि आखिर क्यों वर्णन नहीं हो पाता? मुग्धतावाले प्रेमने कितनी सरल किंतु कितनी सरस युक्तिसे उत्तर दिया है? सराहते ही बनता है—*'गिरा अनयन नयन बिनु बानी'।*

टेनीसनने सच कहा है कि शब्द आन्तरित सत्त्वको केवल आधापर्धा प्रकट करते हैं और आधा छिपाये रहते हैं। शब्दोंमें क्या प्रकट हुआ? *'कुअँर दुइ', 'बय किसोर', 'स्याम गौर'।* मगर संकेतकला कहती है और चाहिये ही क्या? यदि 'खत व खाल' का वर्णन होता तो रुचिके अनुसार और कालके अनुसार नया या पुराना होता। और यह संकेतकला सदा ही ठीक है।

**सुनि हरषीं सब सखीं सयानी। सियहिय अति उतकंठा जानी॥ ३॥**
**एक कहइ नृपसुत तेइ* आली। सुने जे मुनि संग आए काली॥ ४॥**

शब्दार्थ—**उतकंठा**=लालसा। **आली**=सखी। **काली**=कल (जो बीत गया)।

अर्थ—यह सुनकर और श्रीसीताजीके हृदयमें अत्यन्त उत्कण्ठा (अतिशय प्रबल इच्छा वा लालसा) जानकर सब सयानी सखियाँ हर्षित हुईं॥ ३॥ एक सखी कहने लगी कि 'अरी सखी! ये वही राजकुमार हैं जिन्हें सुना है कि कल मुनिके साथ आये हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'सुनि हरषीं सब'* इति। पूर्व कहा है कि हर्षका कारण सब पूछ रही हैं, यथा *'कहु कारनु निज हरष कर पूछहिं सब मृदु बयन।'* (२२८) जब उसने हर्षका कारण बताया कि मैंने बागमें दो राजकुमार देखे। उनकी शोभा देखकर मुझे हर्ष हुआ, तब इन सबोंको भी हर्ष प्राप्त हुआ। सबने कारण पूछा था, इसीसे कारण सुनकर सभीको हर्ष हुआ। इससे यह सिद्धान्त निकला कि श्रीराम-रूपके दर्शन और श्रवण दोनोंसे ही हर्ष होता है। (ख) *'हरषीं सब सखीं सयानी'* इति। *'सयानी'* विशेषण देकर हर्षका दूसरा कारण 'सयानपन' जनाया; अर्थात् *'सयानी'* कहकर जनाया कि सखीकी उत्कण्ठा बढ़ानेवाली युक्तिको ये सब समझ गयीं और यह भी जान गयीं कि उसकी युक्तिने अपना काम पूरा-पूरा कर दिया, उसकी युक्तिसे श्रीसीताजीके हृदयमें अत्यन्त उत्कण्ठा पैदा हो गयी तथा सबको सम्बन्धकी योग्यतापर प्रतीति हो गयी। इस तरह चार बातें सबके हर्षका कारण हुईं—(१) राजकुमारोंकी शोभा। (२) सखीकी युक्ति। (३) श्रीसीताजीकी उत्कण्ठा। और (४) सम्बन्धकी योग्यता। विशेष टि० २ (घ, ङ) में देखिये। सयानपन अक्षर-अक्षरमें झलक रहा है। (ग) *'सिय हिय अति उतकंठा जानी'* इति। उत्कण्ठा जानकर हर्ष हुआ, क्योंकि यदि श्रीसीताजीको उत्कण्ठा न होती तो सखियोंको भी श्रीरामजीका दर्शन न हो सकता। [अत्यन्त उत्कण्ठाका कारण है। इधर निज अनुरूप सुभग वर श्रीगिरिजाजीसे माँग रही हैं और उधर अलौकिक सौन्दर्यवाले राजकुमारके आगमनका समाचार मिल रहा है। अतः यह घटना-संयोग निष्कारण नहीं है। (वि० त्रि०) स्मरण रहे कि *'सिय'* नाम माधुर्यका है, इसीसे उत्कण्ठा होनेमें तथा पूर्व संग छोड़नेमें

* सोइ—को० रा०।

(यथा—*'एक सखी सिय संग बिहाई'* ) यह नाम दिया गया।] *'अति उतकंठा'* का भाव कि उत्कण्ठा तो सभी सखियोंको है पर श्रीसियाजूको 'अति' है। अर्थात् और सबोंसे बहुत अधिक है। [पंजाबीजी, बैजनाथजी और रा० प्र० कारका मत है कि अति उत्कण्ठा जानकर हर्ष होनेका भाव यह है कि एकान्त है। इससे यहाँ उस साँवली मूर्तिको भली प्रकार अघाकर देखेंगी और सियाजूको भी दिखावेंगी]

नोट—१ 'श्रीजानकीजी अभी अपने भावोंको स्वयं नहीं समझ पातीं! सखियाँ उनके चेहरे-(मुख-) के रंग (चेष्टा) इत्यादिसे ही समझ लेती हैं और बड़ी कोमलतासे उन भावोंको उत्तेजित भी करती हैं और मर्यादित भी रखती हैं। यही उनका 'सयानपन' है। देखिये उनको हर्ष ही इस कारण हुआ कि उन्होंने श्रीसीताजीके हृदयकी उत्कण्ठा जान ली।' (लमगोड़ाजी)

टिप्पणी—२ *'एक कहइ नृपसुत तेइ आली।'* इति। (क) जो सखी विह्वल होकर आयी थी और जिसने राजकुमारोंकी शोभा कही है, उसीके वचनोंको यह सखी पुष्ट करती है अर्थात् उसकी प्रशंसा करती है। उस सखीने जो कहा था कि *'देखन बागु कुअँर दुइ आए'* उसके *'कुअँर'* शब्दका अर्थ इसने खोल दिया कि ये वे ही *'नृपसुत'* अर्थात् राजकुमार हैं। [पुनः, (ख) *'नृपसुत'* कहकर गौरव प्रकट किया। राजा लोग नित्य नगरमें धनुषयज्ञके लिये आया करते थे, वैसे ही उनमेंसे इनको भी एक जनाया! (पाँ०) पुनः, (ग) 'नरपति' के लड़के हैं, इस कथनसे जनाया कि सत्य ही निस्संदेह ये और सब लोगोंसे अच्छे होंगे। *'भूप'* शब्दपर जो पूर्व लिखा गया है उसे याद कीजिये। *'भूप बाग'* दोहा २२७ (३) में देखिये। (लमगोड़ाजी) *'तेइ'* का सम्बन्ध आगे *'जे'* से है। (घ)—*'आली'* इति। *'आली'* सम्बोधनसे स्पष्ट कर दिया कि सखियाँ परस्पर एक-दूसरेसे बातें कर रही हैं, क्योंकि सयानी हैं, जानती हैं कि श्रीजानकीजी लज्जावश सकुचाती हैं। ☞ कोमलता विचारिये कि कहना तो श्रीसीताजीसे है, किंतु उनके लज्जाकी मर्यादा रखते हुए एक सखी दूसरी सखीहीको सम्बोधित करती है। श्रीराजकुमारीसे कहनेसे उनको संकोच होगा।] (ङ) *'सियहिय अति उतकंठा जानी'*। यह देहली-दीपक-न्यायसे दोनों ओर है। *'हरषीं सब'''सिय हिय उतकंठा जानी'* तथा *'अति उतकंठा जानी। एक कहइ'* सयानपन देखिये कि श्रीसीताजीका रुख देखकर बात करती है। उनकी उत्कण्ठा देख राजकुमारोंकी शोभा कहकर तब चलनेकी बात कहेगी]

टिप्पणी—३ *'सुने जे मुनि संग आए काली।'* इति। (क) *'सुने'* से पाया गया कि जब श्रीरघुनाथजी नगरदर्शनके लिये गये तब श्रीकिशोरीजीकी किसी भी सखीने उनको नहीं देखा, क्योंकि ये सब सखियाँ कोटके भीतरकी हैं, महलमें रहती हैं और कोट नगरसे पृथक् है, यह पूर्व ही दिखा आये हैं। (ख) *'जे मुनि संग आए'* इति। मुनि विश्वामित्र प्रसिद्ध हैं। इसीसे *'मुनि'* ही कहा।—[पुनः, भाव कि 'मुनितक उनके शृङ्गारके वश हुए; उनके संग-संग फिरते हैं।' (पाँ०); (परंतु इस भावसे मुनि गौण हो जाते हैं और वस्तुतः *'मुनि संग'* से मुनिको मुख्य रखा है।) पुनः, *'मुनिके संग आये'* कहकर शान्तरस भरे, मर्यादासहित और दर्शनयोग्य जनाया। (पाँ०) पुनः भाव कि अन्य राजकुमारोंके साथ अनुचरवर्गके अतिरिक्त कोई और विशेष सहायक नहीं है और इनके ऊपर परमपौरुषी, कालीन, त्रिकालज्ञ विश्वामित्रजी सहायक हैं, अतः इनमें विलक्षण अपूर्वताकी कोई खास बात सूचित होती है। (रा० च० मिश्र) पुनः इससे यह भी जनाया कि ये देखनेमें तो सुन्दर कोमल हैं, पर अतुलित बलशाली हैं, कौशिकजीने इनको धनुषकलामें निपुण कर दिया है, इन्होंने ताड़काका वध और मुनिपत्नी अहल्याका चरणस्पर्शमात्रसे उद्धार किया तथा सुबाहु आदि भारी भटोंका नाश कर मुनि-यज्ञकी रक्षा की। यथा—*'एई रामलखन जे मुनि संग आए हैं। '''देखत कोमल कल अतुल बिपुल बल, कौसिक कोदंड-कला कलित सिखाए हैं। २। इन्हहीं ताड़का मारी गौतम की तिय तारी, भारी-भारी भूरि भट रन बिचलाए हैं। रिषि-मख-रखवारे'''''।'* (गीतावली १। ७२) अतएव इससे निश्चय है कि ये धनुष तोड़ेंगे, यथा—*'कौसिक कथा एक एकनि सों कहत प्रभाउ जनाइ कै। सीय-राम-संजोग जानियत रच्यो बिरंचि बनाइ कै।'* (गी० १। ६८) *'चाप चढ़ाउब राम, बचन फुर मानिय। ४७।' तीनि कालकर ज्ञान कौसिकहिं करतल। सो कि स्वयंबर आनहि बालक बिनु बल। मुनि-*

*महिमा सुनि रानिहिं धीरजु आयउ। तब सुबाहुसूदन-जसु सखिन्ह सुनाएउ।'* (४८) (श्रीजानकीमंगल।) ये वचन एक सखीने श्रीसुनयनाजीसे कहे हैं। वही भाव यहाँ भी है। इस तरह *'मुनिसंग'* के चरित्रोंद्वारा इनको परम बलवान्, प्रतापी और तेजस्वी जनाया।] (ग) *'आए काली'* इति। इससे मुनिका आगमन-काल निश्चित हो गया कि आजके पूर्व दिन सबेरे कुछ दिन चढ़े अमराईमें आकर ठहरे, श्रीजनकमहाराज समाचार पाते ही दर्शनको गये। और अपने साथ महलमें ले आये। फिर भोजन और विश्राम करके नगर-दर्शनको गये। वहाँसे लौटकर संध्या की, फिर कथा हुई और तब शयन हुआ। प्रातःकाल आज फुलवारीमें आये।—यह सब *'आए काली'* से कह दिया।

**जिन्ह निज रूप मोहनी डारी। कीन्हे स्वबस नगर नर नारी॥ ५॥**
**बरनत छबि जहँ तहँ सब लोगू। अवसि देखिअहिं देखन जोगू॥ ६॥**

शब्दार्थ—**मोहनी**=वशीकरणका मन्त्र; लुभानेका प्रभाव। मोहनी डालना=जादू करना; मायाके वश करना। ऐसा प्रभाव डालना कि कोई एकदम मोहित हो जाय। **स्वबस**=अपने वशमें। **जोगू**=योग्य।

अर्थ—(और) जिन्होंने अपने रूपकी मोहनी डालकर नगरके (सभी) स्त्री-पुरुषोंको अपने वशमें कर लिया है॥ ५॥ जहाँ-तहाँ सभी लोग उनकी छविका वर्णन करते हैं। अवश्य देखना चाहिये, वे देखने ही योग्य हैं तथा देखनेका सब योग उपस्थित है॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'जिन्ह निज रूप मोहनी डारी'* इति। (क) [मोहन और वशीकरणके मन्त्र होते हैं, जिनका प्रयोग करनेसे लोग मोहित और वशमें हो जाते हैं। तान्त्रिक प्रयोग छः प्रकारके कहे गये हैं, उनमेंसे 'मोहन' भी एक है। यथा—*'मारण मोहन वशकरण उच्चाटन अस्थंभ। आकर्षण सब भाँतिके पढ़ै सदा करि दंभ॥'* यहाँ रूप ही मोहन-मन्त्र है। रूपका दर्शन कराना वा दर्शन देना मोहन-मन्त्रका प्रयोग करना है। और *'कीन्हें स्वबस नगर नर नारी'* यही मानो वशीकरणका प्रयोग है] भाव कि मन्त्रसे मोहनी डाली जाती है, पर ये अपने रूपसे मोहनी डालते हैं। तात्पर्य कि इनका रूप देखकर सब लोग मोहित हो गये हैं। पुरमें जाकर सबको दर्शन दिया, यही मोहनी डालना है। इन्होंने मोहन और वशीकरणका प्रयोग नहीं किया, पर इनका रूप ही ऐसा है कि देखते ही लोग मोहित हो जाते हैं। यथा—*'नख-सिख अंगनि ठगौरी ठौर ठौर हैं।'* (गी० १। ७१)*'सकल अंग मनमोहन जोहन लायक।'* (३३ श्रीजानकीमंगल) [पांडेजी एक भाव यह भी लिखते हैं कि 'जिस मोहनी रूपको इन्होंने डाल (अर्थात् फेंक) दिया उसीने सबको स्ववश कर लिया और जिसको प्रसन्नतापूर्वक अपने अंगमें रखे हैं उसका तो अन्त ही क्या?' वह तो न जाने क्या गजब ढा दे!] (ख) *'कीन्हे स्वबस नगर नर नारी'* इति। [(१) नगर-नर-नारीका वश करना कहकर जनाया कि ये ही कल नगर देखने गये थे, इसीसे सारे नगरके स्त्री-पुरुष इन्हें देखकर मोहित हो गये। गये तो देखने ये, किंतु सारा नगर इन्हींको देखने लगा। पुनः, (२) भाव कि जैसी दशा आपके सखीकी हुई—*'पुलक गात जल नयन'*, वैसी ही दशा सारे नगरके स्त्री-पुरुषोंकी हो गयी है, कुछ एक इसीकी नहीं। यथा—*'अवलोकत सब लोग जनकपुर मानो बिधि बिबिध बिदेह करे री। राम-लखन-छबि देखि मगन भए पुरजन। उर आनंद जल लोचन प्रेम पुलक तन।'* (३४ श्रीजानकीमंगल) पुनः, (३) *'नगर नर नारी'* का भाव कि मूर्खोंको नहीं किन्तु पण्डित-पण्डिता नागरिकोंको वशमें कर लिया। (पां०) अथवा, (४) मोहनी तो केवल देखनेवालोंको व्यापती है, पर इन्होंने तो सभी स्त्री-पुरुषोंको वशीभूत कर लिया, जिन्होंने अभी देखा भी नहीं है, केवल सुनाभर है, इससे इनमें वशीकरण भी है। (वै०) अथवा, (५) *'नर नारी'* से जनाया कि जिनको देखना उचित है वे और जिनको उचित नहीं भी है वे भी। (प्र० सं०, पां०) अथवा, (६) भाव कि सकल नगरके नरोंको नारि-सरिस वशमें कर लिया; आशय यह है कि जब पुरुषोंको स्त्री-सरीखा वशमें कर लिया तब स्त्रियोंकी तो कथा ही क्या है। (रा० प्र०) वस्तुतः यह मुहावरा है। *'नर नारी'* अर्थात् सभीको। भाव कि सब नर-नारी वशमें हो गये तब यह बेचारी मोहित हो गयी तो आश्चर्य ही क्या?]

नोट—१ *'बरनत छबि'* का भाव कि सब छबि देखकर ऐसे वशीभूत हो गये हैं कि शील, स्वभाव आदि गुणोंको छोड़ केवल छबिहीका वर्णन कर रहे हैं, और कुछ बखान करनेका अवसर ही नहीं मिलता। तात्पर्य कि छबि अपार है, कोई कितना ही कहता है पर पार नहीं पाता।

नोट—२ *'बरनत छबि जहँ तहँ'* के भाव—(क) जहँ-तहँ अर्थात् जहाँ और जिधर देखिये वहाँ और उधर ही छबिका वर्णन हो रहा है। आशय यह है कि मोहन और वशीकरण तो अभिचार क्रियाएँ हैं और ये तो शुद्ध-स्वभाव हैं। इनका स्वाभाविक ही रूप ऐसा अत्यन्त सुन्दर है कि पुरमें जहाँ देखिये छबिका ही वर्णन हो रहा है। (वै०) (ख) जहाँ कोई छबिका वर्णन करता है वहीं सब एकत्र हो जाते हैं। (रा० च० मिश्र) अर्थात् जिन्होंने देखा नहीं वे अथवा जो मुग्ध होकर मूक-से हो गये हैं, वे सुनते हैं। *'बरनत छबि जहँ, सब लोगू तहँ'* ऐसा अन्वय करनेसे यह अर्थ होगा। (ग) छबि जहँ-तहँ=जहाँ-तहाँकी छबि, तात्पर्य कि इनके सर्वाङ्ग सुठौर हैं। जिसकी दृष्टि जिस अंगपर पड़ी वह उसीको देखता रह गया। अतः कोई सर्वाङ्गकी छबि नहीं कह सकता; जहाँ-तहाँकी ही (अर्थात् कोई मुखकी, कोई नेत्रकी, कोई भ्रूकी, कोई नासिकाकी, कोई कंठकी इत्यादि) छबि कहता है। (वै०) (घ) रा० प्र० कार *'बरनत'* का पदच्छेद 'बर नत' इस तरह करके एक भाव यह लिखते हैं कि जहाँ-तहाँ जो 'बर' (श्रेष्ठ) छबिवाले सब लोग रहे अर्थात् कामदेव और चन्द्रमा आदि वे सब इनके आगे 'नत' (नम्र) हो गये।

नोट—३ *'बरनत छबि''सब लोगू'* इति। (क) *'सब लोगू'* अर्थात् नगरके सभी निवासी स्त्री और पुरुष जिनको पहले कह आयी है—*'कीन्हे स्वबस नगर नर नारी।'* उन्हींसे यह तात्पर्य है। (ख) सभीका वर्णन करना ही कहकर सूचित करते हैं कि सभी रूपरस-माधुरीमें इतने पगे हुए, ऐसे छके हुए हैं कि सब कहते ही हैं। किसीको यह होश नहीं कि वह किससे कह रहा है, कोई सुनता भी है या नहीं, जैसे नशेमें अपनी ही सूझती है। पुनः, (ग) *'सब लोगू'* अर्थात् जिनको उचित है एवं जिनको उचित नहीं है वे सभी। तात्पर्य कि पतिव्रता स्त्रियोंको पतिको छोड़ दूसरे पुरुषका वर्णन करना अनुचित है, पर वे भी मुग्ध होकर मर्यादा छोड़कर उनकी छबिका वर्णन कर रही है। (पाँ०) (घ) *'बरनत''सब लोगू'* यथा—*'ये दोऊ दसरथके बारे।''सुखमा सील सनेह सानि मनो रूप बिरंचि सँवारे। रोम रोम पर सोम काम सतकोटि वारि फेरि डारे॥ १०॥''''कोउ कहै तेज प्रताप पुंज चितए नहि जात भिया रे। छुअत सरासन सलभ जरैगो ए दिनकर बंस दिया रे॥ ११॥ एक कहैं कछु होउ सुफल भये जीवन जनम हमारे। अवलोके भरि नयन आजु तुलसी के प्रान पियारे॥'* (१२ गी० १। ६८) *'भूप भवन घर-घर पुर बाहर इहै चरचा रही छाइकै। मगन मनोरथ मोद नारिनर प्रेम-बिबस उठैं गाइकै॥ २॥'* (गी० १। ७०) *'रामलखन जब दृष्टि परे, री। अवलोकत सब लोग जनकपुर मानो बिधि बिबिध बिदेह करे, री॥ धनुषयज्ञ कमनीय अवनितल कौतुक ही भए आय खरे, री। छबि सुरसभा मनहु मनसिज के कलित कलपतरु रूप फरे, री। सकल काम बरषत मुख निरखत करषत चित हित हरष भरे, री॥'* (गी० १। ७६) *'जबतें रामलखन चितए, री। रहे इकटक नर-नारि जनकपुर लागत पलक कलप बितए, री॥ १॥''बिरचत इन्हहिं बिरंचि भुवन सब सुंदरता खोजत रित ए, री। तुलसिदास ते धन्य जनम जन मन क्रम बच जिन्हके हित ए, री॥'* (गी० १। ७८) इत्यादि। (ङ) ☞ *'जिन्ह निज रूप'''* और *'जहँ-तहँ'* के संकेतकी प्रशंसा हो ही नहीं सकती, लाखों दृष्टिकोण भी कम हैं। (लमगोड़ाजी)

टिप्पणी—२ (क) यहाँतक सुनी हुई बात कही। *'नृपसुत तेइ आली'* से लेकर *'बरनत छबि जहँ तहँ सब लोगू'* तक सब बातें सुनी हुई हैं, देखी नहीं हैं। यथा—*'सुने जे मुनि संग आए काली।'* पुनः, (ख) यहाँतक देखनेकी योग्यता (दर्शन करने योग्य है यह बात) दिखायी। एक तो छबिकी प्रशंसा सर्वत्र हो रही है। दूसरे वे विश्वामित्र मुनि ऐसे भारी महात्माके साथ आये हैं। तीसरे, वे हमारे बागमें हैं और दोनों अकेले ही आये हैं, उनके साथ और कोई है भी नहीं और न हमारे ही साथ कोई ऐसा है जिसका संकोच हो। चौथे, स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध सभीने उनको देखा है और सभी उनका वर्णन करते हैं। पाँचवें,

दैव-योगसे यहाँ वे आ गये हैं और एकान्त हैं, हमें उनके दर्शनके लिये बाहर कहीं नहीं जाना है। (छठे, लोकोत्तर पदार्थ दर्शनीय होता ही है। फिर जिसके दर्शनका माहात्म्य है, जिसे सब देखना चाहते हैं, उसके दर्शनमें दोषकी सम्भावनाको स्थान नहीं है। वि० त्रि०) इत्यादि सब योग *'सुने जे मुनि संग आए काली'* से *'जहँ तहँ सब लोगू'* तक इतने ही शब्दोंमें दिखाकर तब कहती है *'अवसि देखिअहि देखन जोगू'* अर्थात् देखने योग्य हैं और देखनेका सब योग अकस्मात् आ उपस्थित हुआ है। तथा यही समय है, अवश्य चलकर देखना चाहिये।

नोट—४ सखीके वचनका अन्तिम पद *'अवसि देखिअहि देखन जोगू'* सरलता और सरसताका नमूना है। फारसीका यह शेर स्मरण आये बिना नहीं रहता—*'तुरा दीदा व यूसुफ रा शुनीदा। शुनीदा कै बुवद मानिन्द दीदा॥'* (तुझे देखा है और यूसुफको सुना है। सुना हुआ देखे हुएके बराबर कैसे हो सकता है?) जब फूलकी सुगन्ध मिली तब किस सुन्दरतासे 'उसके देखनेकी चाह' पैदा की और अब आगे दिखाने ले जा रही है। (लमगोड़ाजी)

नोट—५ *'देखन जोगू'* उस श्लिष्ट शब्दद्वारा सखी एक गुप्त अर्थ यह प्रकट कर रही है कि नारदजीने जो भविष्यवाणी की है उसकी सब बातें घट रही हैं, देखनेमें योग-(विवाहसम्बन्ध-) की सम्भावना है। यह 'विवृतोक्ति अलंकार' है। (वीर)

**तासु बचन अति सियहि सोहाने। दरस लागि लोचन अकुलाने॥७॥**
**चली अग्र करि प्रिय सखि सोई। प्रीति पुरातन लखै न कोई॥८॥**

अर्थ—उसके वचन श्रीजानकीजीको अत्यन्त प्रिय लगे। दर्शनके लिये नेत्र व्याकुल हुए॥ ७॥ उसी प्रिय सखीको आगे करके चलीं। उनकी पुरानी प्रीतिको कोई भाँप नहीं सकता॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'तासु बचन अति'* ' इति। *'तासु बचन'* का भाव कि प्रथम सखी जिसने राजकुमारोंको देख आकर सब समाचार कहा था उसके भी वचन *'सुहाए'* थे पर इस सखीके वचन *'अति सोहाने'* क्योंकि इसने दर्शनकी योग्यता और दर्शनका योग दिखाकर दर्शन करने चलनेकी सम्मति दी। [पुनः भाव कि प्रथम सखीने सौन्दर्य वर्णन किया, पर देखनेको न कहा था और इसने सौन्दर्य तो कहा ही पर साथ-ही-साथ देखनेको भी कहा। सखी जो मर्यादाकी 'बारी' बनी है, उसीने राह खोल दी, अतः इसके वचन अति सुहावने लगे। (पाँ०)] पुनः *'अति सोहाने'* का भाव कि सुहाये तो सभीको पर श्रीसीताजीको अत्यन्त सुहाये, क्योंकि इनके हृदयमें 'अति उत्कंठा' थी। [☞ सखीकी जबान (वाणी) और कविकी लेखनी ही श्रीसीताजीके भावोंका प्रकटीकरण कर रही हैं। हाँ, जब व्याख्या हो जाती है तब सीताजीका हृदय बोल उठता है कि ठीक है। (लमगोड़ाजी)]

टिप्पणी—२ *'दरस लागि लोचन अकुलाने'* इति। श्रीसीताजी लज्जावश अपने मनकी कुछ कह न सकती थीं। इस सखीने उनके मनकी बात कह दी कि *'अवसि देखिअहि।'* इसीलिये दर्शनके लिये नेत्र अकुला उठे। पुनः इस सखीसे सौन्दर्यकी प्रशंसा सुनी इससे देखनेके लिये नेत्र व्याकुल हो रहे हैं। व्याकुलता इससे है कि कहीं राजकुमार चले न जायँ। यथा—*'चितवति चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गये नृपकिसोर मनु चिंता॥'* (२३२। १)—यह भाव आगेके *'जनु सिसु मृगी सभीत।'* (२२९) से भी सूचित हो रहा है। [पुनः भाव कि कान और मनको तो सुननेसे सुख हुआ, पर नेत्रोंको सुख न मिला, अतः वे अकुलाये। अथवा, सखी मर्यादाकी 'बाड़ी' बनी थीं, (जबतक सखियोंकी मर्यादारूपी बारी रूँधी रही तबतक श्रीकिशोरीजीके नेत्र नहीं अकुलाये थे। उस सखीने उपर्युक्त वचनोंद्वारा वह बारी तोड़ दी और राह खोल दी तब नेत्र देखनेको अकुलाये। पाँ०)]

टिप्पणी—३ *'चली अग्र करि प्रिय सखि सोई।'* ' इति। (क) अब चलनेसे सब सखियाँ प्रसन्न होंगी कि हमारे कहनेसे श्रीजानकीजी चलीं और यदि लज्जावश हम नहीं जातीं तो सब उदास हो जायेंगी और हमलोग राजकुमारोंको फिर कैसे देख पावेंगी, यह सब विचारकर चलीं। [(ख) यहाँ

कैसी मर्यादा रखी है। श्रीसीताजीका सखीको आगे चलनेको कहना कि जहाँ उनको देख आयी है, वहीं सीधे चल, आगे हो जा—यह कुछ न कहा। इतना ही कवि कहते हैं कि उसे आगे करके चलीं। दोनों बातें हो सकती हैं। एक तो लज्जासे नेत्रोंका इशारामात्र कर दिया और वह आगे हो गयी, कहनेकी जरूरत न हुई। दूसरे, कविने उनका कहना न लिखकर कलम (लेखनी) द्वारा जना दिया कि वे तुरत चल दीं और जल्दी-जल्दी चली जा रही हैं।] (ग) *'प्रिय सखि सोई'* इति। श्रीरामजीको देख आयी है, उनके आगमनकी खबर दी है, इसीसे प्रिय है और इसीसे उसे आगे होनेको कहा कि रास्ता दिखावे। ☞(घ) स्मरण रहे कि यहाँ चोरीसे जाती हैं, इसीसे यहाँ गाना नहीं लिखते। जब गिरिजा-पूजनको जा रही थीं तब गाती जा रही थीं। [*'प्रिय'* इससे कि श्रीरामजीसे मिलानेकी बात कही है एवं मिलावेगी। (प्र० सं०)]

नोट—१ ☞उपदेश—यहाँ यह उपदेश हमें मिल रहा है कि जो सेवक अपनेको अतिशय भानेवाला पदार्थ स्वयं न भोगकर अपने प्रभुहीको उसे समर्पण कर देता है, वह अवश्य अग्रगण्य और स्वामीको प्रिय हो जाता है, इसमें लोग और भी गूढ़ ध्वनि कहते हैं। (प्र० सं०)

२-लमगोड़ाजी लिखते हैं कि प्रेमिककी खबर दी है, इसीसे 'प्रिय' हो गयी, नहीं तो 'एक सखी' ही थी। अब अग्रसर है, नहीं तो चली गयी थी तब किसीने जाना भी नहीं।' (नोट)—'विषय इतना सरस है कि बहुत कहनेको जी चाहता है, परंतु विस्तारके भयसे पहले तो जो भाव और विद्वानोंकी व्याख्याओंमें आ गये हैं उन्हें नहीं दोहराता। दूसरे, पाठकोंसे विनम्र निवेदन है कि नोटोंको उदाहरणमात्र समझकर उसी शैलीपर प्रत्येक शब्दपर विचार करें तो उन्हें बड़ा आनन्द मिलेगा।'

## 'प्रीति पुरातन लखइ न कोई' इति।

मानसमयंक—'शृङ्गारके साजको सजकर रामसंयुक्त जानकीजी साकेतके रङ्गमहलमें राजती रहीं, वही पुरातन प्रीति हृदयमें उमड़ रही है, अतएव बिना अपने प्रीतमको देखे दु:खित हैं।

रा० कु०—*'प्रीति पुरातन'* अर्थात् मनु-शतरूपाके वरदानके सम्बन्धसे युगल स्वरूप प्रकट हुए हैं, उसी सम्बन्धका प्रेम है, इसको कोई नहीं जानता।

पाण्डेजी—*'प्रीति पुरातन'*=अनादि प्रीति। *'प्रीति पुरातन लखै न कोई'* का दूसरा अर्थ यह भी होता है कि श्रीजानकीजीके मनमें यह संकोच हुआ कि 'इस पुरातन प्रीतिको जिससे तन भर गया है (जो हृदय और शरीरमें छा गया है) कोई लख न ले', अत: प्रिय सखीको आगे करके ले चली। पुन:, तीसरा अर्थ यह है कि 'प्यारी सखीको आगे करके चली परंतु जो उनकी अनादि प्रीति है वही प्रिय सखीके रूपमें है जो मिलाने जा रही है, यह बात कोई लख नहीं पाता।'

बैजनाथजी—'यहाँ अनूढ़ाके लक्षण दर्शित करते हैं कि पूर्वकालकी प्रीति जो बीजमात्र है जिसका उल्लेख आगे दोहामें है, वह बेलि-सी बढ़ गयी, इसीके आधारपर चली जा रही है।'

पंजाबीजी—इसमें गूढ़ ध्वनि यह है कि उनकी पुरानी प्रीतिको वा व्याकुलताको कोई जान न पावे, अत: प्रिय सखीको आगे कर लिया।

प० प० प्र०—युगलकिशोरोंको देखनेकी लालसा तो प्रबल हुई है, इसका कारण है 'पुरातन प्रीति', पर यह किसीने जाना नहीं। सीताजी भी विचार कर रही हैं कि उनको देखनेकी ऐसी प्रीति क्यों हुई। कविराज कहते हैं कि यह प्रीति नयी नहीं है, पुरानी है। ☞पुरातन प्रीति परिस्थितिके प्रभाव तथा कालकी महिमासे जब जागृत होती है तब वह व्यक्ति स्वयं ही जान नहीं पाता कि ऐसा क्यों हो रहा है। **'व्यतिषजति पदार्थान् आन्तरः कोऽपि हेतुः न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते॥'** कालिदासके इस उद्धरणमें **'कोऽपि हेतुः'** से कारणकी अज्ञता जैसी कही है वैसे ही यहाँ भी कहा कि *'पुरातन प्रीति लखै न कोई।'* (यही विचार अगले दोहेमें लमगोड़ाजीकी टिप्पणीमें आ चुके हैं।)

राजारामशरणजी—यहाँतक बाग और सरका प्रभाव श्रीराम और लक्ष्मणजी दोनोंपर एक दिखाया था। आगे प्रेमका प्रभाव केवल रामपर पड़ना कहेंगे। उस प्रेमके पृथक्करणका सिद्धान्त यहीं प्रथम 'प्रीति पुरातन' में संकेतरूपसे बता दिया है।

**दो०—सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत।**
**चकित बिलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत॥ २२९॥**

अर्थ—नारदजीके वचन स्मरणकर श्रीसीताजीके (हृदयमें) पवित्र प्रीति उत्पन्न हुई। (वे) सब दिशाओंमें चौकन्नी-सी देख रही हैं, मानो मृगछौनी (बच्चा हरिणी) डरी हुई (देख रही) हो॥ २२९॥

टिप्पणी—१ (क) *'सुमिरि सीय नारद बचन'* नारदजीका वचन है कि जिसमें इनका मन लगेगा वही वर इनको मिलेगा—*'सो बरु मिलिहि जाहि मनु राचा।'* (ख) *'उपजी प्रीति पुनीत'* अर्थात् श्रीरामजीमें मन लगा, वे हमें अवश्य मिलेंगे। (ग) *'प्रीति पुनीत'* का भाव कि बिना धनुष टूटे वा तोड़े किसी पुरुषपर पतिभावसे प्रीति करना अपुनीत है, किसीमें मन लगना प्रीतिकी अपुनीतता है। इस दोषके निवारणार्थ कहते हैं कि नारद-वचनके स्मरणसे प्रीति उपजी। नारदके वचन सदा सत्य हैं—*'होइ न मृषा देवरिषि भाषा।'* (६८। ४) *'नारद बचन सदा सुचि साँचा॥'* (२३६। ८) इसीसे प्रीति उत्पन्न हुई और श्रीरामजी इनको अवश्य मिलेंगे, इसीसे प्रीति पुनीत है, अपुनीत नहीं। पुनः दूसरा भाव कि प्रीतिकी प्रशंसा उसकी पुनीततासे होती है, यथा—*'प्रीति पुनीत भरत कै देखी। सकल सभा सुख लहेउ बिसेषी॥'*, *'इन्ह कै प्रीति परसपर पावनि। कहि न जाइ मन भाव सुहावनि॥'* (२१७। ३) पुनीत=निश्छल, यथा—*'भाइहि भाइहि परम सभीती। सकल दोष छल बरजित प्रीती॥'* और, स्वार्थ ही छल है। यथा—*'स्वारथ छल फल चारि बिहाई।'* इस तरह *'उपजी प्रीति पुनीत'* का भाव यह हुआ कि श्रीजानकीजीके हृदयमें स्वार्थरहित प्रीति उत्पन्न हुई, किसी सुखकी काङ्क्षासे नहीं, वरंच निष्काम फलाभिसन्धिवर्जित प्रीति है। अतएव उसे पुनीत कहा। (घ) ☞यहाँ प्रतीति, प्रीति और उससे भगवत्प्राप्ति तीनों बातें कहीं। बिना प्रतीतिके प्रीति नहीं होती; यथा—*'बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती'* *'सुमिरि सीय नारद बचन'* से जनाया कि नारदजीके वचनोंमें श्रीसीताजीकी प्रतीति है। प्रतीति होनेसे प्रेम उपजा। प्रेमसे भगवान्‌की प्राप्ति है सो आगे होनेहीको है।—*'जेहि पर जाकर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलहि न कछु संदेहू॥'* ☞ऐसा ही पार्वतीजीके प्रकरणमें कहा गया है, प्रथम नारदवचनमें प्रतीति हुई, फिर शिवपदमें प्रेम उपजा, तब प्राप्ति हुई।

नोट—१ (क) यहाँ श्रीनारदजीके वचन मुख्य हैं। इससे अनुमान होता है कि 'नारदजीने पूर्व ही यह कह रखा था कि पुष्पवाटिकामें पतिका प्रथम दर्शन होगा, पीछे ब्याहका सम्बन्ध होगा। इस वचनका बीज हृदयमें पहलेहीसे जम गया था। उसीका स्मरण हो आया, प्रेम उत्पन्न हुआ, इससे 'ये ही हमारे पति होंगे' यह निश्चय हुआ। पति होंगे अतः प्रेम पुनीत है।' (पाँड़ेजी, रा० प्र०) (ख) नारदजीने ये वचन कब और कहाँ कहे थे इसमें मतभेद है। कोई निश्चित प्रमाण हमें नहीं मालूम। कोई कहते हैं कि 'किसी समय गिरिजापूजन-समय पुष्पवाटिकाहीमें नारदजी आये थे। प्रणाम करनेपर उन्होंने आशीर्वाद दिया था कि इसी वाटिकामें तुम्हारे भावी पतिके तुमको दर्शन होंगे' और किसीका मत है कि महलमें राजा-रानीके सामने नारदजीने यह बात कही थी। श्रीगिरिजाजन्मपर जैसे नारदजीने जाकर उनका हाल कहा था वैसे ही श्रीसीताजीके प्रादुर्भावपर नारदजी आये थे, जैसा श्रीरूपलताजीरचित जन्मस्तुतिसे भी पाया जाता है—*'नारद मुनि आए बचन सुनाए।'* सम्भव है तभी यह प्रसङ्ग भी कह दिया हो। (ग) जो 'नारदजीके वचन थे उन्हींके अनुकूल श्रीजानकीजीकी दशा हो गयी, इसको सखियोंसे छिपानेके लिये *'चकित बिलोकति'*।' (पाँड़ेजी)

नोट—२ *'चकित बिलोकति'* क्योंकि नेत्र दर्शनके लिये आतुर हो रहे हैं, राजकिशोर किधर हैं, कहाँ हैं, कहीं चले तो नहीं गये! वा, इसलिये कि यह प्रीति सखियोंको विदित न हो। (पाँड़ेजी) वा, यद्यपि अन्तःकरणमें उपपतिकी शङ्का नहीं है, पाणिग्रहण इन्हींसे होगा यह निश्चय है तो भी पिताका

पन तो अभी पूरा नहीं हुआ, इससे लोक-लाज कुल-कानिको विचारकर शङ्का करती हैं कि कोई कहीं देखता तो नहीं; इस हेतुसे चारों ओर चकित हो देखती हैं।' (बैजनाथजी)

नोट—३ *'सकल दिसि'* इति। संकोच-विवश राजकिशोरोंकी दिशाके सिवा अन्य दिशाओंमें भी देखने लगती हैं। वा, सखियोंसे छिपानेके हेतु। (पाँड़ेजी, मिश्रजी) ☞लमगोड़ाजी लिखते हैं कि 'ये शब्द नारदवचनके स्मरणके बाद आये हैं, इससे बड़े सुन्दर हैं। 'नसीम' ने 'बकावलीके फूल' के लिये लिखा है— ***'शबनमके सिवा चुरानेवाला। ऊपरका था कौन आनेवाला॥ अपनोंमेंसे फूल ले गया कौन? सब्जेके सिवा बेगाना था कौन?"बू होके तो गुल उड़ा नहीं है"।',*** तो फिर राममें आधिदैविक व्यक्तित्वके विचारसे यह शब्द सारी दिशाओंके संकेतसे कि जिसमें आकाश व पाताल भी शामिल हैं, कितना सुन्दर है। लेकिन (फिर भी) कविने सरलता जाने नहीं दी, आँखोंका सब दिशाओंमें ढूँढ़ना बड़ा ही स्वाभाविक है। प्रेमके आँख-मिचौनीसे ही भाव उत्तेजित होते हैं। ललचाने (अकुलाने) से 'चकित' और 'चकित' से भयकी अवस्थातक पहुँचा दिया।' ☞'सीताजी-जैसी राजकुमारी स्वयं इस उलझनमें थीं कि मैं क्यों चल पड़ी? ['खबर नहीं है कहाँ जाऊँगी, चली हूँ कहाँ?'] तब ही विचारसमुद्रमें गोता लगानेसे नारदके वचनका स्मरण हुआ।'

पाँड़ेजी, मिश्रजी—*'जनु सिसु मृगी सभीत'* इति। सभीत मृगछौनीकी उपमा बड़ी ही विलक्षण है। भययुक्त मृगछौनीकी चारों ओर 'हेरनि' से सीताजीकी अशृङ्गारित दृष्टि स्वभावतः विलक्षण सौन्दर्यसे भरी और भोरी है। मृगछौनीको बाधक जीवों, फँसाने और फाँसनेवाले व्याधाओंका डर, वैसे ही यहाँ सीताजीको पिताके पनका भय, माताका भय, सखियोंके लखनेका भय और राजकिशोरोंकी छटामें फँस जानेका भय। भयसे चौंक-चौंककर देखती हैं। [मृगी डरकर शीघ्र चारों ओर देखती है, अतएव यह उपमा दी गयी। यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।]

प० प० प्र०—मृगीकी उत्प्रेक्षा प्रीतिकी पुनीतता और नेत्रों आदिको इधर-उधर आतुरतासे घुमाना दिखानेके लिये बड़ी सुन्दर है। शिशुमृगी जब वनमें मातासे अलग हो जाती है और माता उसे दिखायी नहीं देती तब वह भयभीत होकर चारों तरफ सिर और नेत्र घुमाती है और माँके लिये व्याकुल होती है। उसका पुनीत मातृप्रेम ही उसे व्याकुल कर देता है। वैसे ही सीताजीके मनमें पति-भावसे प्रेम तो उपजा पर इसमें कामविकारका लेश भी नहीं है। अतः यह पुनीत है। नारदवचनसे पतिप्रेम उपजनेमें अपुनीतता नहीं है, पर यदि इस प्रीतिमें कामविकार उत्पन्न होता तब तो वह प्रीति अपुनीत ही हो जाती, क्योंकि विवाहके पूर्व किसी पुरुष या स्त्रीको देखनेमें यदि कामविकार उत्पन्न होगा तो उसको मानस-व्यभिचार ही कहना पड़ेगा।

नोट—४ यहाँ हमें उपदेश मिलता है कि उपासनाको इसी तरह गुप्त रखना चाहिये, यद्यपि चतुर लोग अनुमानसे जान ही लेते हैं।

**कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लषन सन रामु हृदय गुनि॥ १॥**
**मानहु मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही॥ २॥**

शब्दार्थ—**गुनि**=विचारकर। **मनसा**=कामना, मनोरथ, संकल्प। सन=से

अर्थ—कंकण (हाथका भूषण), किंकिणी (कटिभूषण, करधनी) और नूपुर-(पैरके भूषण, पाजेब-) की ध्वनि सुनकर श्रीरामचन्द्रजी हृदयमें विचारकर लक्ष्मणजीसे कहते हैं—॥ १॥ (हे लक्ष्मणजी! यह ध्वनि तो ऐसी हो रही है) मानो कामदेवने नगाड़ा वा डंका बजाया है और विश्वविजयका संकल्प किया है। (अर्थात् नगाड़ा बजाकर विश्वको जीतने चला है)॥ २॥

श्रीराजारामशरणजी—१ शब्दशक्ति विचारणीय है। गहनोंके नाम भी आ गये और दुन्दुभीका टेका सुनायी भी देने लगा। २—राम पुरुष हैं, इससे शृङ्गाररस बड़ी तेजीसे बढ़ रहा है, वे अपने भावोंको समझते हैं और तुरत ही बिना छलके छोटे भाईसे कह भी देते हैं। भावकी तेजीको अपूर्ण क्रियाओं Participient form से किस सुन्दरतासे व्यक्त किया है। ३—जार्ज मेरिडिथ George Meridith ने ठीक कहा है कि प्रेमिकाके सरल चलने-फिरनेमें प्रेमिकका हृदय ओर (जोर?) से इरादेके साथ कामकी कल्पना करता

है। इसीसे कविने उत्प्रेक्षाका प्रयोग किया है कि कोई यह न समझ बैठे कि वस्तुत: ये सखियाँ और जानकीजी अपनी चालसे कामदुन्दुभी बजाती चल रही थीं (यह तो गुलछर्रे उड़ाना होता)।

प० प० प्र०—श्रीसीताजीमें जो पुनीत प्रीति उपजी वह नारदजीकी शब्दशक्तिसे। श्रीरामजीमें भी इस ध्वनि-शक्तिसे ही पुनीत प्रीति उपजी। एक सखी जो पूर्व गयी थी उसके आभूषणोंकी ध्वनिसे ऐसा नहीं हुआ। इसका कारण यही है कि जैसे श्रीरामजीका शरीर और सब भूषण चिदानन्दमय हैं वैसे ही श्रीसीताजीकी देह, आभूषणोंकी ध्वनि सभी चिदानन्दमय हैं। हृदयाकर्षण-विधिमें समान संस्कार, संकल्प, भावना आदिका ही प्रभाव पड़ता है।

टिप्पणी—१ (क) '***कंकन किंकिनि नूपुर***'—तीन अङ्गोंके आभूषण अर्थात् शरीरके ऊँचे, नीचे और मध्यके आभूषण लिखकर जनाया कि जितने भी ऐसे आभूषण शरीरमें हैं जो कि शब्द करते हैं उन सबोंका शब्द हुआ। अथवा ये तीन आभूषण अधिक शब्दकारी हैं, इसीसे इन्हीं तीनोंका नाम लिखा, यथा—'***कंकन किंकिनि नूपुर बाजहिं। चाल बिलोकि काम गज लाजहिं॥***' (३१८। ४) (ख) 'कंकणसे विशेष किंकिणी बजती है और किंकिणीसे विशेष नूपुर बजता है, अत: शब्दके क्रमसे नाम लिखे।

नोट—१ और भाव ये हैं—(ग) कंकण हाथका, किंकिणी कटिका और नूपुर पदका आभूषण है। हाथ हिलनेसे पहुँचीमें लगनेसे कंकणमें मधुर शब्द होता है, हिलनेसे (चलनेपर) किंकिणीसे भी मधुर शब्द होता है। यथा—'***कटि तट रटति चारु किंकिनि रव अनुपम बरनि न जाई।***' (वि० ६२) और पैर उठाकर धरनेपर नूपुरोंमें विशेष शब्द होता है। तीनोंकी मिलकर जो एक साथ ध्वनि हो रही है उसे सुनकर। (वै०) पुन:, (घ) आगे इस ध्वनिको दुन्दुभीकी ध्वनि कहते हैं, क्योंकि डंकेमें तीन शब्द होते हैं। प्रथम दो बार 'कुड़ुक-कुड़ुक' धीमा शब्द होता है, यह कंकण और किंकिणीका मधुर शब्द है और तीसरा 'धुम' जो गम्भीर शब्द है वह नूपुरका गम्भीर शब्द है। इसीसे तीनोंके मिलनेसे जो ध्वनि होती है वह नगाड़ेकी 'कुड़ुक-कुड़ुक धुम' सी है। (वै०) (ङ) पं० रामचरण मिश्रजी कहते हैं कि 'प्रथम '***कंकन***' पद देकर पाणिग्रहण सूचित किया, क्योंकि पहले कंकणहीके शब्दने हृदयमें प्रविष्ट होकर अपने स्वत्व होनेका अंकुर जमा लिया, अन्यथा शोभा होनेसे दूषण था, पीछे किंकिणी और नूपुरके क्रमश: शब्द रामजीके हृदयङ्गत हुए। लौकिक कंकणादिकोंकी ध्वनि रामजीके हृदयङ्गम नहीं हो सकती। महारानीजीके आभरण चेतन विग्रह-स्वरूप हैं। इनसे जो ध्वनि निकलती है वह सामवेदकी 'वार्त्तान्तरीय' तीसरी शाखाके शक्ति-सूक्तिकी ऋचाओंकी ध्वनि गूँजती है, इसीसे रामजीको तत्त्व लक्ष्य हो गया। अगस्त्यरामायण उत्तर प्रकरण अ० ५-६ देखिये।—'**नखरनिकरकान्तं मुद्रिकानूपुराद्यैः श्रुतिनुतिरणयन्तं मानसे योगिभाव्यम्**।' यद्यपि सीताजीके चलनेमें कंकणादिकोंकी ध्वनि एक साथ ही मिली हुई निकल रही है, पर कविने मर्यादाकी सीमापर क्रम रखा है, क्योंकि वहाँ तो ध्वनि साथ ही निकली पर कवि तीनों शब्द साथ ही कैसे लिखें, जो ही शब्द प्रथम लिखते उसीमें शंका बनी रहती कि पहिले यह क्यों? अत: उक्त क्रम साभिप्राय और गम्भीर है। दूसरे साथ निकली हुई भी ध्वनि मर्यादापुरुषोत्तमके मर्यादासे ही कर्णगोचर हुई। (च) दूसरे चरणमें '***राम हृदय गुनि***' श्रीरामजीका इस शब्दपर विचार करना कहते हैं। वह विचार यह है—'***कंकन***' यह जना रहा है कि संसारमें कौन शोभावाला ऐसा है जो इनके आगे 'कंक' अर्थात् दरिद्र नहीं है। '***किंकिन***' से 'किन-किन' यह ध्वनि निकलकर कहती है कि इनके सामने रमा, उमा, ब्रह्माणी, रति आदि किन-किनने हार नहीं मानी, सभीने तो हार मान ली। '***नूपुर***' छननन बोलता हुआ सूचित कर रहा है कि रति आदिको लजाकर भागनेमें क्षणभर भी नहीं लगता। (रा० प्र०)

टिप्पणी—२ '***हृदय गुनि***'। भाव कि कामके नगाड़ेका शब्द श्रीरामजीके हृदयमें प्रवेश कर गया है, आगे श्रीसीताजीके स्वरूपमें आसक्त होवेंगे; यथा—'***जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा॥***', '***कहत लषन सन***' इति। लक्ष्मणजीसे कहते हैं, क्योंकि लक्ष्मणजी 'कामजेता' हैं। मेघनादको

काम कहा है, यथा—'*पाकारिजित काम बिश्राम हारी*', सो उस मेघनादको श्रीलक्ष्मणजीने जीता। पुनः, लक्ष्मणजीके निकट काम नहीं जा सकता। यथा—'*देखि गएउ भ्राता सहित तासु दूत सुनि बात। डेरा कीन्हेउ मनहु तब कटकु हटकि मनजात॥*' (३। ३७) लक्ष्मणजीने आभूषणोंकी ध्वनिपर किञ्चित् भी निगाह न डाली, किसी स्त्रीकी ओर न देखा, न कामकी कोई बात ही उन्होंने की—यही कामका जीतना है। लक्ष्मण वीर हैं, वीरकी चढ़ाई वीरसे ही कहनी चाहिये, जिसमें वह सावधान हो जाय। अतः लक्ष्मणजीसे कहा। पुनः भाव कि आभूषणोंकी ध्वनि अतीव मधुर है, बिना कहे रहा न गया, इसीसे इनसे कहा।—विशेष आगे दोहा २३० में '*बोले सुचि मन अनुज सन*' पर लमगोड़ाजीकी टिप्पणी देखिये।

वि० त्रि०—'*हृदय गुनि*…' इति। विचार करते हैं कि गतिकी रमणीयतासे भूषणोंकी ध्वनि ऐसी सुहावनी है। भूषणोंकी ध्वनि मधुर होती है, पर इसका उद्दीपक प्रभाव ऐसा बलवान् है कि दुन्दुभीके घोर शब्दसे उपमित करनेयोग्य है। सखारूपमें लक्ष्मणजी साथ हैं, अतः उन्हींसे अपना मनोभाव व्यक्त कर रहे हैं। नगर-दर्शन-समय कामका पराजय हुआ, अतः पुष्पधन्वाने वाटिकामें फूल चुनते देखकर, उपयुक्त समय जानकर विश्वविजयके लिये डंका दिया, क्योंकि इनके विजयसे विश्वविजय है। श्रीरामजीका कामसे वैर है, यथा—'*नील तामरस स्याम काम अरि।*'

प० प० प्र०— (क) यहाँ श्रीसीताजीकी पुनीत प्रीतिका प्रभाव दिखा रहे हैं कि आभूषणोंकी ध्वनिसे श्रीरामजीमें ही पुनीत प्रीति उपजी। पुनः, (ख) यहाँ श्रीरामजीकी ऋजुता और वीरता दिखायी। उनके हृदयमें इस ध्वनिसे जो खलबली मची है उसका सार उन्होंने लक्ष्मणजीसे कहा। श्रीलक्ष्मणजी शान्त, स्वस्थ और कामविजयी हैं। (ग) श्रीसीताजीसे अपनी प्रीति छिपा रखी, किसी भी सखीसे न कहा, पर श्रीरामजी पुरुष हैं, वे अपने ऐश्वर्य-भावको भूले नहीं हैं। श्रीसीताजी केवल ६-७ वर्षकी हैं। अतः बालकुमारी स्वभाव और वीराग्रणी रघुवीरके स्वभावमें इतना भेद दिखाया है।

नोट—२ (क) मिश्रजी एवं बैजनाथजीका मत है कि 'रामजी अपने हृदयको निर्विकार और मर्यादाकी सीमा समझते थे, पर उक्त ध्वनिसे कुछ क्षुभित समझ रसका उद्दीपन भाव विचारकर स्वयं उत्प्रेक्षा करते हैं। (ख) लक्ष्मणजीसे कहनेका भाव स्नेहलताजी यह कहती हैं कि 'प्रभु उनको चेता रहे हैं कि अब होशियार हो जाओ। तुम्हारा वात्सल्य है। हमारा मन इनमें लग गया है।' और कुछ लोग यह कहते हैं कि 'आपत्तिमें भाई ही याद पड़ता है, वही सहाय होता है अतएव इनसे कहा। (ग) यहाँ शृङ्गाररससे संपुटित वीररस है। इसका रूपक आगे दिया जायगा।

टिप्पणी—३ '*मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही।*…' इति। (क) स्त्री ही कामका परम बल है, यथा—'*लोभ के इच्छा दंभ बल कामके केवल नारि।*' (३। ३८) '*एहि कें एक परम बल नारी।*' (३। ३८) इसीसे स्त्रीके आभूषणोंके शब्दको कामका नगाड़ा कहा। आभूषणोंका शब्द तालसे बजता है, यथा—'*मंजीर नूपुर कलित कंकन ताल गति बर बाजहीं।*' इसीसे शब्द अति मधुर है। अति मधुर है, इसीसे कामके नगाड़ेके समान है। (ख) कामने नगाड़ा बजाया, इस कथनसे पाया गया कि वह सेनासहित आया है।* (ग)'*मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्हीं*' यह कैसे जान पड़ा? उसके इस प्रकार नगाड़ा बजानेसे ही जाना गया कि विश्वविजय हो गया। अथवा, जब उसने विश्वविजयका मनोरथ किया तभी तो हमारे ऊपर चढ़ाई की है, हमको विजय कर लेनेसे विश्वका विजय हो ही चुका। ☞ उसने विश्वविजयकी इच्छा की। इच्छा करते ही उसने विश्वको विजय कर ही तो लिया, यथा—'*अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा।*

* १ यहाँ सखीगण सेना हैं (रा० प्र०)। २ कामकी चतुरंगिणी सेना यह है—'त्रिविध पवन गज हैं। बड़े-बड़े फूले हुए वृक्ष घोड़े हैं, गुल्मलता पैदल हैं, सपल्लव रसाल रथ हैं। वसन्त सेनापति है। पयान समान डंका दिया, सखियाँ बल हैं। श्रीकिशोरीजी प्रताप हैं।—इसीसे इस समय मदन वीर अजित है। भाव कि इस समय मेरा भी धैर्य गया, अतः पराजय सहनेसे तो सन्धि ही कर लेना भला है। मैं सन्धि करता हूँ।' (वै०) पं० रामकुमारजी और पंजाबीजीका मत है कि स्त्रियाँ सेना हैं। 'बल'-सेना।

*सिय मुख ससि भये नयन चकोरा।'* (२। ३) भगवान् विश्वरूप हैं, यथा—*'विश्वरूप रघुबंसमनि।'* (६। १४) सो वे वशमें हो गये। [(घ) ☞काम जानकीजीका बल पाकर अत्यन्त प्रबल है, इससे उसको विजय करनेवाला त्रिलोकीमें कोई नहीं है। विश्वका अर्थ 'संसार' करनेमें कोई विशेषता नहीं है। क्योंकि संसार तो कामका गुलाम है ही, उसे तो सदा ही वह विजय किये हुए ही है। इसलिये विष्णुसहस्रनामके अथवा *'बिस्वरूप रघुबंसमनि करहु बचन बिस्वास। लोक कल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु'* के आधारपर 'विश्वरूप जो मैं उसके विजयकी' यह अर्थ ठीक होगा—'**विश्वं विष्णुर्वषट्कारः**'। (रा० च० मिश्र)]

प० प० प्र०—१ श्रीरामजी रघुवीर हैं, इससे उनके मनमें विश्वविजय और विजयारम्भसूचक रणदुन्दुभी बजानेकी ही उत्प्रेक्षा आ गयी। ☞यहाँसे कामदेव और राम-रघुवीरका मानो विश्वविजयार्थ युद्ध आरम्भ हो गया। यह रणपरिभाषा ध्यानमें रखनी चाहिये। आरम्भमें आज चन्द्रोदय-वर्णनतक तो ऐसा देख पड़ेगा कि कामदेवकी ही विजय हो गयी, पर आगे सिद्ध होगा कि राम-रघुवीरकी ही विजय हुई। *'बिस्व बिजय जसु जानकि पाई'* से यह आगे स्पष्ट कहा है।

२ इस प्रसंगमें पहले युद्धमें तो कामदेवकी विजय हुई है, यह अगली चौपाईसे स्पष्ट होता है। पर मानसकविकी भावाभासनिर्मित कलाका यह कमाल है कि श्रोता इस भावाभासके प्रवाहमें ही बहने लगता है और गूढ़ भावके मर्मको समन्वय रीतिसे समझनेमें असमर्थ होता है।

३ '**विश्वं विष्णुः**' 'विश्वरूप' रघुवंशमणि ही हैं। और '**अकाराक्षरसम्भूतः सौमित्रिर्विश्वभावनः**।'(रा० ता० उ०) इस समय तो मदनने श्रीरामजीपर विजय तत्काल पा ली, पर विश्वविभु श्रीलक्ष्मणजीपर विजय पानेमें वह असमर्थ ठहरा। इससे सूचित किया कि विश्वविजयके प्रयत्नमें मदनकी इच्छा पूरी न होगी। गत महायुद्धमें जापान और जर्मनीकी ही विजय प्रथम प्रतिदिन होती रही, पर अन्तमें तो पराजय ही हुआ, ऐसा ही यहाँ होना है।

नोट—३ कामने विश्वविजयकी इच्छा क्यों की? इसका उत्तर मा० त० वि० कार यह लिखते हैं कि '**रणयन्नूपुरं पादे क्वणयन् कंकणं करे। कलयन् किंकिणीं कट्यां वलयं वादयन्मुहुः। नीलपीताम्बरधरौ स्रग्विणौ च शुचिस्मितौ। विराजेते महापीठे तुमुले रासमण्डले॥ सर्वाः सर्वं प्रनृत्यन्ति नर्तयन्ति परसपरम्**।' (अर्थात् युगल सरकार नील-पीताम्बर धारण किये हुए, माला पहने, मन्दमुसकानसहित महारासमण्डलमें दिव्य सिंहासनपर बैठे हैं। चरणमें नूपुर, हाथमें कङ्कण, किंकिणी और वलय मधुर शब्द कर रहे हैं। सभी परस्पर नाचती और नचाती हैं।) राजस्थल निकुंज स्थानकी ध्वनि है, इसीसे हृदयमें गुणेकर भाईसे कहने लगे कि यह ध्वनि तो वैसी ही है मानो मदनने विश्वमें मेरे मनके विजयहेतु डंका बजाया है। जब महारास-स्थानमें कामकी कला कुछ न चल सकी, '**नव्यलावण्यकं दृष्ट्वा मूर्छितौ रतिमन्मथौ**।'(हनुमत्संहिता) तब संसारमें मेरा नरनाट्यमात्र लीला समझकर चढ़ाई की होगी। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि *'मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही'* का भाव यह है कि मुनिके साथ हम जो ब्रह्मचर्यव्रत धारण किये हुए हैं यह रहेगा कि नहीं।

वीरकवि—*'मानहु मदन''कीन्ही'* में कामदेवका नगाड़ा बजाना असिद्ध आधार है, क्योंकि वह बिना दुन्दुभी दिये ही त्रिलोकविजयी है। इस अहेतुको हेतु ठहराना 'असिद्ध विषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

**अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा। सिय मुख ससि भये नयन चकोरा॥ ३॥**
**भये बिलोचन चारु अचंचल। मनहु सकुचि निमि तजे दिगंचल॥ ४॥**

अर्थ—ऐसा कहकर फिरके उस-(शब्द-) की ओर देखा तो श्रीसीताजीके मुखचन्द्रपर (श्रीरामजीके) नेत्र चकोर हो गये। अर्थात् उनके मुखचन्द्रको टकटकी लगाये देखते रह गये॥ ३॥ सुन्दर दोनों नेत्र स्थिर हो गये, मानो निमिमहाराजने संकोचवश हो पलकों परके निवासको छोड़ दिया॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'फिरि चितये तेहि ओरा'* इति। जब दूरसे शब्द सुन पड़ा तब मदनकी दुन्दुभीका अनुमान करके कहने लगे थे और जब शब्द बहुत निकट सुन पड़ा तब फिरकर देखा। *'फिरि चितये'* अर्थात् फिरकर देखा—इस कथनसे पाया गया कि सखी पीछेसे आयी। श्रीरामजी लताकी ओटमें हैं, इसीसे

श्रीसीताजीने श्रीरामजीको नहीं देखा और श्रीरामजीने सीताजीको देख लिया। चन्द्र चकोरको नहीं देखता, चकोर ही चन्द्रको देखता है। (ख) *'सिय मुख ससि भये नयन चकोरा'* इति। *'भये चकोरा'* अर्थात् चकोरकी तरह एकटक देखते रह गये। यथा—*'एकटक सब सोहहिं चहुँ ओरा। रामचंद्र मुखचंद्र चकोरा॥'* यही बात आगे कहते हैं—*'भये बिलोचन चारु अचंचल'।* [चकोर पूर्णचन्द्रपर लुब्ध रहता है, यथा—*'भये मगन देखत मुख सोभा। जनु चकोर पूरन ससि लोभा॥'* (२०७। ६) नेत्रोंको चकोर कहकर जनाया कि नेत्र शोभापर लुभा गये। मनके लुभाये बिना नेत्र एकटक नहीं हो सकते, इसीसे आगे मनका लुभाना भी कहा है—*'मन सिय रूप लुभान।'* (२३१)]

नोट—१ *'फिरि'* के *'र'* से परकारकी तरह घूम जाना किस सुन्दरतासे दिखाया गया है। *('यह है आयी कहाँसे, गरदिशे परकार पावोंमें?'* का जवाब है।) साथ-ही-साथ अन्तमें स्थिर भावके निरूपणमें *'सिय मुख ससि'* वाला अनुप्रास कितना शान्तमय और सरल है। (सारी अपूर्ण क्रियाओंकी पूर्ति यहाँ हुई।) शब्दगुणमें 'च' कारकी चाशनी देखिये। (लमगोड़ाजी)

प० प० प्र०—उस मदन-दुन्दुभीकी प्रभुता तो देखिये कि फूल चुनना तो पहले ही बन्द हो गया, अब नादलुब्ध मनने प्राणादि इन्द्रियोंपर ऐसी सत्ता जमायी कि यन्त्रके समान शरीरको घुमा दिया और जिधरसे ध्वनि आयी थी उधर मुख हो गया और ध्वनि जहाँसे निकली थी उसे देखनेके लिये नेत्र चंचल हो गये। जैसी दशा प्रथम श्रीसीताजीकी हुई वैसी ही अब श्रीरामजीकी हुई; भेद इतना ही है कि श्रीरामजी बालमृगकी तरह सभीत नहीं हुए।

नोट—२ *'सिय मुख'* को पूर्णचन्द्र कहनेका भाव कि श्रीकिशोरीजीके नेत्र और मुखकी ज्योति पूर्ववत् जैसी-की-तैसी ही बनी रही और श्रीरामजीमें सात्त्विक भाव हो आया। अतएव ये ही आसक्त हुए, जैसे चकोर चन्द्रमापर आसक्त होता है, चन्द्रमा चकोरपर नहीं। (वै०) श्रीसीताजीके मुखपर चन्द्रमाका आरोप करके श्रीरामजीके नेत्रोंपर चकोरका आरोपण करना 'परम्परित रूपक अलंकार' है।

प० प० प्र०—श्रीरामजीके नेत्र ही चकोर बने। श्रीरामजी शरद् शशि हैं, सिय मुख शरद् शशि नहीं है, केवल शशि है। यथा—*'अधिक सनेह देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥', 'सिय मुख ससि भए नयन चकोरा'।* अब विचार कीजिये, किसकी जय हुई। श्रीसीताजी इस महाछबिको देखते ही इतनी लुब्ध हो गयी हैं कि उस रूपकी सराहना मनमें भी न कर सकीं। और श्रीरामजी तो विचारक्षम रहे हैं, इनकी देह भी *'भोरी'* नहीं हुई। इस प्रकार यहाँ श्रीरघुवीरकी ही विजय हुई है।

नोट—३ यह प्रभाव श्रीरामपर ही पड़ा, लक्ष्मणजीपर नहीं, यद्यपि पहले प्रभाव एकसे थे। प्रेमके पृथक्करणका यह सिद्धान्त ही *'प्रीति पुरातन'* पूर्व सम्बन्धरूपमें पहले ही संकेतरूपसे बता दिया गया है। 'मैरी कोरेली' नामक नैतिक उपन्यासकारने भी 'जिस्का' (Ziska) नामी अंग्रेजी उपन्यासमें यह सिद्धान्त चरितार्थ किया है कि यदि वैसे प्राकृतिक संयोगवाले प्रेमिक और प्रेमिकाको अलग-अलग ध्रुवोंपर रखें तो भी वे आकर्षित होकर बिना मिले न रहेंगे। (लमगोड़ाजी)

प० प० प्र०—इस सम्पूर्ण प्रसङ्गमें कविका सँभाल ध्यानमें रखना आवश्यक है। देखिये, जब श्रीरामजीके नेत्र श्रीसीताजीको देखते हैं तब सीताजी उनकी तरफ नहीं देखती हैं और जब श्रीसीताजीके नेत्र श्रीरामजीके मुखचन्द्रको 'निहारते' हैं तब रघुवीरकी दृष्टि उस तरफ नहीं है। यह लीला *'सिय राम अवलोकनि परस्पर।'* (३२३ छन्द २) तक अव्याहत बनी रही। अर्थात् विवाह-विधिमें परस्परावलोकन विधितक रघुवीर और जानकीमें एक ही समय परस्परावलोकन नहीं हुआ है। ☞ यह परमोच्च आदर्शयुत शुद्ध सात्त्विक शृङ्गारकी विशेषता केवल तुलसीमानसमें ही देखनेको मिलती है।

टिप्पणी—२ (क) यहाँ श्रीरामजीके मन, वचन, कर्म तीनोंका हाल कहा है। *'हृदय गुनि'* हृदयमें गुणना यह मनका हाल है, लक्ष्मणजीसे कहना—*'कहत लखन सन'* यह वचन है और फिर कर देखना यह कर्म है। तात्पर्य कि मन, वचन और कर्म तीनोंसे वशमें हो गये हैं।

(ख) *'भए बिलोचन चारु अचंचल'* इति। *'चारु'* विशेषणका भाव कि एकटक होनेपर नेत्रोंकी शोभा नहीं रह जाती, पर श्रीरामजीके नेत्र *'अचंचल'* अर्थात् स्थिर होनेपर भी सुन्दर हैं और जब चितवते होते हैं तब तो सुन्दर होते ही हैं। यथा—*'चितवनि चारु मार मनु हरनी।'* (२४३। ३), *'चितवनि चारु भृकुटि बर बाँकी।'* (२१९। ८) [*'भए अचंचल'* का भाव कि नेत्र अपनी ही वस्तुकी खोजमें हैं। जबतक वस्तु न मिली तबतक चंचल रहे, मिल जानेपर अचंचल हो गये। (पाँ०) अथवा, अभीतक चंचलतारहित हो किसीके रूपपर न ठहरे थे, वह अपनी *'बानि'* (स्वभाव) छोड़कर आज स्थिर हो गये। (रा० प्र०) पुनः भाव कि *'जिन्ह निज रूप मोहनी डारी। कीन्हें स्वबस नगर नर नारी॥'* भला उन रघुनाथजीकी दृष्टिको लुभानेवाला संसारका कोई प्राणिमात्र कब हो सकता है? स्मरण रहे कि जनकपुरके *'नगर नारि नर रूप निधाना।'*'*तिन्हहि देखि सब सुर सुरनारी। भए नखत जनु बिधु उजिआरी॥'* (३१४। ७) जब ये ही श्रीरामरूप देख लुब्ध हो गये तब त्रिभुवनका कौन ऐसा प्राणी है जो अपने सौन्दर्यसे, छबिसे, उनको लुभा ले? सो उन श्रीरघुनाथजीके नेत्र भी श्रीसीताजीकी छबिपर अचंचल हो गये; इससे यहाँ कोई कारण-विशेष जान पड़ता है। अतः निमिकी उत्प्रेक्षा करके असम्भव दोषकी निवृत्ति की। (मा० त० वि०)]

टिप्पणी—३ *'मनहु सकुचि निमि तजे दिगंचल'* इति। (क) निमि राजाका वास सबकी पलकोंपर है। श्रीसीताजी निमिकुलकी कन्या हैं और श्रीरामजी उनके पति हैं। लड़का-लड़की (दामाद और कन्या) दोनों वाटिकामें एकत्र हुए, इसीसे मानो राजा निमि सकुचाकर पलकोंको छोड़कर चले गये कि अब यहाँ रहना उचित नहीं। पलक छोड़कर चले गये, इससे पलक खुले रह गये। शोभा देखकर पलक नहीं गिरते।—इसी (एकटक होनेके) सम्बन्धसे उत्प्रेक्षा करते हैं कि मानो निमि सकुचकर चले गये। वा, [(ख) निमि यह सोचकर चले गये कि यहाँ हमारे रहनेसे इनको संकोच होगा, जिससे इनके उपस्थित कार्यमें विघ्न होगा। अपनी संतानका शृङ्गार कुतूहल देखना मना है। (रा० च० मिश्रजी)]

नोट—४ पलकोंपर वास रहनेसे उनका खुलना और बंद होना अपने अधिकारमें था। जब वास हट गया तब तो वे खुले ही रह गये। यह केवल उत्प्रेक्षा है। नहीं तो आपके पलकोंपर देवताओंका वास कहाँ? आपके तो सब अङ्ग चिदानन्दमय हैं—*'चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥'* (२। १२७) शोभाको देखकर नेत्रोंका एकटक होना स्वाभाविक है। यह सिद्ध आधार है, परंतु निमिका पलक त्याग देना कल्पनामात्र है। इस अहेतुको हेतु ठहराना 'सिद्ध विषया हेतूत्प्रेक्षा अलङ्कार' है। न तो निमि चले गये और न सकुचे ही। यह कविकी युक्ति है।

मनुजीके पुत्र इक्ष्वाकुजीके सौ पुत्रोंमेंसे विकुक्षि, निमि और दण्ड तीन पुत्र प्रधान हुए। यथा—**'क्षुतवतश्च मनोरिक्ष्वाकुः पुत्रो जज्ञे घ्राणतः॥ ११॥ तस्य पुत्राः शतप्रधाना विकुक्षिनिमिदण्डाख्यास्त्रयः पुत्रा बभूवुः॥'** (१२) (वि० पु० अंश ४ अ० २) इस तरह राजा निमि भी रघुवंशी थे। सत्योपाख्यानमें भी यही कहा है। यथा—**'निमिस्तु पूर्वजोऽस्माकमिक्ष्वाकुतनयोऽभवत्॥ ८॥ इक्ष्वाकुकुलजन्मत्वादिक्ष्वाकुसदृशाविमौ। कुले तस्मिन्निमौ जातौ पूजनीयौ न संशयः॥'** ९॥ (उत्तरार्ध अ० ६) अर्थात् इक्ष्वाकुपुत्र 'निमि' महाराज हमारे पूर्वज थे। इन दोनोंका जन्म इक्ष्वाकुकुलमें होनेसे ये दोनों इक्ष्वाकु महाराजके समान हैं और इसीसे ये दोनों हमारे पूज्य हैं। (भा० ९। १३। १) में भी राजा निमिको इक्ष्वाकु महाराजका पुत्र कहा है। महर्षि गौतमके आश्रमके समीप वैजयन्त नामका नगर बसाकर ये वहाँका राज्य करते थे।

निमिने एक सहस्र वर्षमें समाप्त होनेवाले एक यज्ञका आरम्भ किया और उसमें वसिष्ठजीको होता (वा, ऋत्विज्के रूपमें) वरण किया। वसिष्ठजीने कहा कि पाँच सौ वर्षके यज्ञके लिये इन्द्रने मुझे पहले ही वरण कर लिया है। अतः इतने समय तुम ठहर जाओ। राजाने कुछ उत्तर नहीं दिया, इससे वसिष्ठजीने यह समझकर कि राजाने उनका कथन स्वीकार कर लिया है, इन्द्रका यज्ञ आरम्भ कर दिया, इधर राजा निमिने भी उसी समय महर्षि गौतमादि अन्य होताओंद्वारा यज्ञ प्रारम्भ कर दिया। इन्द्रका यज्ञ समाप्त होते ही 'मुझे निमिका यज्ञ कराना है' इस विचारसे वसिष्ठजी तुरंत ही आ गये।

राजा उस समय सो रहे थे। यज्ञमें अपने स्थानपर गौतमको होताका कर्म करते देख वसिष्ठजीने सोते हुए राजाको शाप दिया कि 'इसने मेरी अवज्ञा करके सम्पूर्ण कर्मका भार गौतमको सौंपा है, इसलिये यह देहहीन हो जाय।' '**तत्कर्म कर्तृत्वं च गौतमस्य दृष्ट्वा स्वपते तस्मै राज्ञे मां प्रत्याख्यायैतदनेन गौतमाय कर्मान्तरं समर्पितं यस्मात्तस्मादयं विदेहो भविष्यतीति शापं ददौ॥ ८॥**' (वि० पु० ४। ५) श्रीमद्भागवतमें शापके वचन ये हैं—'निमिको अपनी विचारशीलता और पाण्डित्यका बड़ा घमण्ड है, इसलिये इसका शरीर पात हो जाय। यथा—'**अशपत् पतताद् देहो निमेः पण्डितमानिनः॥**'(भा० ९। १३। ४)

वसिष्ठजीने शाप दिया है, यह जानकर राजा निमिने भी उनको शाप दिया। '**यस्मान्मामसंभाष्याज्ञानत एव शयानस्य शापोत्सर्गमसौ दुष्टगुरुश्चकार तस्मात्तस्यापि देहः पतिष्यतीति शापं दत्त्वा देहमत्यजत्॥' १०॥** (वि० पु० अंश ४ अ० ५) अर्थात् इस दुष्ट गुरुने मुझसे बिना बातचीत किये अज्ञानतापूर्वक मुझ सोये हुएको शाप दिया है, इसलिये इसका देह भी नष्ट हो जायगा। इस प्रकार शाप देकर राजाने अपना शरीर छोड़ दिया। श्रीमद्भागवतमें शुकदेवजीने कहा है कि निमिकी दृष्टिमें गुरु वसिष्ठका शाप धर्मके प्रतिकूल था, इसलिये उन्होंने भी शाप दिया कि 'आपने लोभवश अपने धर्मका आदर नहीं किया, इसलिये आपका शरीर भी पात हो जाय—'**निमिः प्रतिददौ शापं गुरवेऽधर्मवर्तिने। तवापि पतताद् देहो लोभाद्धर्ममजानतः॥**'(भा० ९। १३। ५) महर्षि गौतम आदिने निमिके शरीरको तैल आदिमें रखकर उसे यज्ञकी समाप्तितक सुरक्षित रखा। यज्ञकी समाप्तिपर जब देवता लोग अपना भाग ग्रहण करनेके लिये आये तब ऋत्विजोंने कहा कि यजमानको वर दीजिये। देवताओंके पूछनेपर कि क्या वर चाहते हो, निमिने सूक्ष्म शरीरके द्वारा कहा कि देह धारण करनेपर उससे वियोग होनेमें बहुत दुःख होता है, इसलिये मैं देह नहीं चाहता। समस्त प्राणियोंके लोचनोंपर हमारा निवास हो। देवताओंने यही वर दिया। तभीसे लोगोंकी पलकें गिरने लगीं। यथा—'**तदहमिच्छामि सकललोकलोचनेषु वस्तुं न पुनश्शरीरग्रहणं कर्तुमित्येवमुक्तैर्देवैरसावशेषभूतानां नेत्रेष्ववतारितः॥ १८॥ ततो भूतान्युन्मेषनिमेषं चक्रुः॥**'(१९) (वि० पु०)

श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार कहा है कि सत्रयागकी समाप्तिपर जब देवता आये तब मुनियोंने उनसे प्रार्थना की कि यदि आप प्रसन्न हैं तो राजा निमिका यह शरीर पुनः जीवित हो उठे। देवताओंने 'एवमस्तु' कहा। तब निमिने कहा कि 'मुझे देहका बन्धन नहीं चाहिये। विचारशील मुनिलोग अपने बुद्धिको पूर्णरूपसे श्रीभगवान्‌में ही लगा देते हैं और उन्हींके चरणकमलोंका भजन करते हैं। एक-न-एक दिन यह शरीर अवश्य छूटेगा—इस भयसे भीत होनेके कारण वे इस शरीरका कभी संयोग ही नहीं चाहते—वे तो मुक्त ही होना चाहते हैं। अतः मैं अब दुःख, शोक और भयके मूल कारण इस शरीरको धारण करना नहीं चाहता। जैसे जलमें मछलीके लिये सर्वत्र ही मृत्युके अवसर हैं, वैसे ही इस शरीरके लिये भी सब कहीं मृत्यु-ही-मृत्यु है।'

देवताओंने आशीर्वाद दिया कि राजा निमि बिना शरीरके ही प्राणियोंके नेत्रोंपर अपनी इच्छाके अनुसार निवास करें। वे वहाँ रहकर सूक्ष्म शरीरसे भगवान्‌का चिन्तन करते रहें। पलक उठने और गिरनेसे उनके अस्तित्वका पता चलता रहेगा। (भा० ९। १३। ८—१२) यथा—'**विदेह उष्यतां कामं लोचनेषु शरीरिणाम्। उन्मेषणनिमेषाभ्यां लक्षितोऽध्यात्मसंस्थितः॥**' (९। १३। ११) उसी समयसे पलकोंका नाम निमेष हुआ। इस कुलमें उत्पन्न राजा इसी समयसे रघुकुलसे पृथक् हुए और वैजयन्तका नाम मिथिला पड़ा।

**देखि सीय सोभा सुखु पावा। हृदय सराहत बचन न आवा॥ ५॥**
**जनु बिरंचि सब निज निपुनाई। बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि देखाई॥ ६॥**

अर्थ—(श्रीरामजीने) श्रीसीताजीकी शोभाको देखकर सुख पाया। हृदयमें (शोभाकी) सराहना करते हैं। वचन नहीं निकलता॥ ५॥ मानो ब्रह्माजीने (श्रीजानकीजीरूपी) विशेष रचना करके अपनी सारी कारीगरी (सारी निपुणता) संसारको प्रकट कर दिखायी है। (वा, अपनी सारी कारीगरी रचकर 'विश्व' को प्रत्यक्ष कर दिखाया है।)॥ ६॥

लमगोड़ाजी—१ ☞ अर्धाली ५ में 'स' का अनुप्रास और दीर्घमात्राओंमें रसास्वादनका आनन्द है। २ *'बीनद रूय गुल'* (उस फूलका साक्षात्कार) कितना सरस है। साक्षात्कारसे वह गुप्त आनन्द है, जिसमें हृदयकी सराहना है। मगर *'बचन न आवा'* कि मूक अवस्था ही है। हम आगे देखेंगे कि इस हृदयकी सराहनाको कवि (जिसका अर्थ ही है क्रान्त अर्थात् सूक्ष्मदर्शी) अपनी एक्सरेज (X-Rays) द्वारा कि सुन्दरतासे प्रकट करेगा। नाटककलाके मर्मज्ञ देखें कि कवि कितना आवश्यक है और ऐसे कविद्वारा चित्रणके सामने शैक्सपियरके नाटकोंकी 'स्वागत-वार्ताएँ' (Soliloëquising) कितनी कृत्रिम हैं।

टिप्पणी—१ (क) *'देखि सीय सोभा सुखु पावा'* इति। (क) पूर्व नेत्रको चकोर कहा—*'सिय मुख ससि भये नयन चकोरा।'* चन्द्रमाको देखकर जो दशा चकोरकी होती है, वह सब दशा अब कहते हैं। दोनोंकी दशाओंका मिलान—

| चकोरकी दशा— | | श्रीरामजीकी दशा— |
|---|---|---|
| चन्द्रमाको देखनेसे सुख मिलता है | १ | *देखि सीय सोभा सुखु पावा* |
| चकोर चन्द्रमाको एकटक देखता रहता है | २ | *भये बिलोचन चारु अचंचल* |
| चन्द्रमाको देखता है, तारागणको नहीं | ३ | श्रीसीताजीको देखते हैं, सखियोंको नहीं |
| चन्द्रमाको देख हृदयमें सुखी होता है | ४ | *हृदय सराहत* |
| चन्द्रमाको देखकर बोलता नहीं | ५ | *बचन न आवा* |

(ख) *'बचन न आवा'* से जनाया कि सीताजीकी शोभा वचनसे भिन्न (परे) है; क्योंकि यदि वचनमें आ सकती तो रामजी लक्ष्मणजीसे अवश्य कहते, जैसे आभूषणोंके शब्द सुनकर उसको कहा था। (ग) हृदयमें क्या सराहते हैं सो आगे लिखते हैं—*'जनु बिरंचि'*।'

नोट—१ *'देखि सीय सोभा'* इति। शोभा 'सौन्दर्य और गुणका वह भाग है जो औरोंको अपनी आकर्षण-शक्तिसे आकर्षित करता है। इस तरह नजदीकी बढ़ती जाती है और गुण एवं सुन्दरता, वास्तविकतया न कि केवल आपेक्षिक, स्वयं अनुभूत एवं विश्वसनीय होती जाती है'—(पं० राजबहादुर लमगोड़ाजी। माधुरीसे)

नोट—२ *'सुखु पावा'* क्योंकि नेत्र चकोर बन गये हैं, चकोर चन्द्रको देख सुख पाता है। नेत्र अपना विषय पाकर सुखी हुए। इन्हींके लिये तो पीछे फिरे थे, जिसकी खोज थी उसे पा गये। पाँड़ेजी लिखते हैं कि *'पावा'* शब्द खोजने-ढूँढ़नेका वाचक है। जिस सुखको ढूँढ़ते थे उसे पाया। वह सुख कैसा है, उसपर कहते हैं कि 'वचनमें नहीं आता।' [अर्थात् वाणीसे अगोचर है, वाणीका विषय नहीं हो सकता, वाणीकी वहाँ पहुँच नहीं।] (पाँड़ेजी) मिलान कीजिये—*'उर अनुभवति न कहि सक सोऊ।'* वही भाव यहाँ है। पुनः *'सुखु पावा'* से जनाया कि आनन्दरूप सुखनिधान कहलाते थे, पर आनन्द वस्तुतः आज ही पाया है। (मा० त० वि०)

नोट—३ *'हृदय सराहत'* के और भाव—(क) ऊपर कह आये हैं कि सखी श्रीरामजीको देख निर्बोल हो गयी, इससे सीताजीने यह प्रण किया कि राजपुत्रने एक सखीको निर्बोल कर दिया है, हम उनको अनबोल करेंगी। वही बात कवि यहाँ कहते हैं कि रघुनाथजी सीताजीको देख ऐसे आनन्दको प्राप्त हुए कि बोल न आया। (पाँ०) (ख) *'सराहत'* का श्लेषसे यह भाव भी निकलता है कि 'हृदय (शोभारूपी) सर (बाण) से आहत अर्थात् घायल हो गया, अतएव *'बचन न आवा।'* (मा० त० वि०, रा० प्र०)

वि० त्रि०—पहिले कह आये हैं *'परम रम्य आराम यह जो रामहि सुख देत।'* बागने सुख तो दिया पर इन्होंने लिया नहीं, क्योंकि बिना आलम्बनके उद्दीपन सुखदायक नहीं होता। अब श्रीसीताजीके रूपमें आलम्बनकी प्राप्ति हुई; अतः कहते हैं *'देखि सीय सोभा सुखु पावा।'* (अब अनुभाव कहते हैं कि) मनसे प्रशंसा करते हैं, लक्ष्मणजीसे कहना चाहते हैं पर कह नहीं सकते। चतुष्पाद विभूतिमेंसे एक पाद ही प्रकट है और तीन पाद अप्रकट हैं। सो मानो ब्रह्मदेवने सीताजीको रचकर उनमें चतुष्पाद विभूतिको प्रकट करके दिखला दिया। यथा—'त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।'

(श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि 'सर+आहत' वाली खींचातानीसे मैं सहमत नहीं हूँ, क्योंकि इसमें *'जहर इश्क'* है और यहाँ विषपूर्ण शृङ्गार नहीं है।'—दास प्रथम ही लिख चुका है कि ये टिप्पण केवल शृङ्गारियों, रसिकों, सखाभाववालोंके हैं और उन्हींके लिये हैं)।

टिप्पणी—२ *'जनु बिरंचि सब निज निपुनाई'*' इति। (क) इस कथनका तात्पर्य यह है कि श्रीजानकीजी ब्रह्माजीके कला-कौशलकी सीमा हैं। (ख) जहाँ अत्यन्त सुन्दरता कहनेको होती है वहाँ ब्रह्माका ही बनाना कहते हैं। यथा—*'जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी। तेहि स्यामल बरु रचेउ बिचारी॥'* (२२३। ७), *'कहा एक मैं आजु निहारे। जनु बिरंचि निज हाथ सँवारे॥'* (३। १। ५) इत्यादि। 'श्रीसीताजी विधिकी बनायी हुई नहीं हैं, यह शङ्का करनेका कोई प्रयोजन ही नहीं है; क्योंकि यहाँ शोभाके वर्णनका प्रकरण है। विधि-प्रपञ्चमें नररूप धारण करके प्रकट हुए हैं, इसीसे विधिके बनाये कहे जाते हैं। (☞स्मरण रहे कि यहाँ श्रीसीताजीको विरंचिका बनाया नहीं कहते। यहाँ उत्प्रेक्षामात्र है। अतीव सुन्दरताके विषयमें और कह ही क्या सकते हैं? उत्प्रेक्षा यथार्थ नहीं होती। *'जनु बिरंचि'*' से जनाया कि श्रीसीताजी अयोनिजा हैं, उनका जन्म कर्मविपाक-बन्धनके अतीत है।)

नोट—४ पाण्डेजीने यह शङ्का उठाकर कि 'आगे कहा है कि *'बिधिहि भयेहु आचरजु बिसेषी। निज करनी कछु कतहुँ न देखी॥'* (३१४। ८) जब ब्रह्माने जनकपुरकी प्रजाके घरोंमें अपना कुछ कर्तव्य कहीं नहीं देखा, तब जानकीजीको बनाना कैसे सम्भव हो सकता है?' वे समाधानार्थ अर्थ यों करते हैं—'मानो जो जानकीजी अपनी निपुणतासे सब विरंचोंको रचती हैं वही विश्वको प्रकट दिखायी दीं।' और कहते हैं कि ऐसा ही आगे कहते हैं—*'सुंदरता कहँ सुंदर करई।'*

नोट—५ वि० टी० ने यह अर्थ दिया है—'मानो ब्रह्माजीने अपनी सब चतुराईहीको रूप देकर परमेश्वरको स्पष्ट दिखाया हो।'—यहाँ *'बिस्व'* का अर्थ 'परमेश्वर भगवान् राम' किया है। रा० प्र० के आधारपर यह अर्थ जान पड़ता है।

नोट—६ (क) ☞*'बिरंचि'* शब्द प्रायः वहीं-वहीं दिया गया है जहाँ विशेष कौशलकी रचना कहनी होती है। ब्रह्मा हाथसे नहीं रचते। वे संकल्पमात्रसे सृष्टिकी रचना करते हैं, पर इनकी रचना मानो स्वयं की है।—यह *'बिरंच'* के रचनेका भाव है। (ख) एक तो *'बिरंचि'* उसपर भी *'बिरचि'* और फिर भी *'सब निज निपुनाई'* विचारने ही योग्य हैं। भाव यह है कि ऐसी शोभा ब्रह्माण्डभरमें कहीं किसीमें नहीं है; यह 'अलौकिक' है, जैसा आगे श्रीरामजीने स्वयं कहा है—*'जासु बिलोकि अलौकिक सोभा।'*

नोट—७ यहाँ श्रीसीताजीकी अतिशय शोभाका वर्णन उत्प्रेक्षाका विषय है। ब्रह्माकी रचना-कुशलता सिद्ध आधार है, क्योंकि वे सृष्टिकी रचना करते हैं। पर सीताजी आदिशक्ति हैं, वे स्वयं अपनी इच्छासे प्रकट हुई हैं, वे ब्रह्माकी बनायी नहीं हैं। इस अहेतुको हेतु ठहराना 'सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा अलङ्कार' है। (वीर)

नोट—८ कुमारसम्भवमें इससे मिलता हुआ श्लोक यह है—'**सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन। सा निर्मिता विश्वसृजा यत्नादेकस्थसौन्दर्य्यदिदृक्षयेव**॥' अर्थात् समस्त उपमायोग्य द्रव्योंका समुच्चय लेकर यथायोग्य अङ्गोंमें लगाकर सृष्टिरचयिता विरंचिने बड़े ही प्रयत्नसे सौन्दर्यको देखनेके लिये इनका निर्माण किया।

नोट—९ हृदयमें क्या सराहते हैं यह *'जनु बिरंचि'*' से प्रारम्भ हुआ। इसपर शङ्का होती है कि 'जिस सुख-शोभाको उसके पानेवाले न कह सके—*'बचन न आवा'* उसको ग्रन्थकर्त्ता कैसे कहते हैं?' समाधान यह है कि 'मानसके रूपकमें कह आये हैं कि जो युक्ति कहेंगे वह इस सरकी मोती उत्पन्न करनेवाली सीपी है। उसीके अनुसार दोहेतक कविकी युक्ति है।' (पाण्डेजी) पुनः कवि प्रथम ही कह चुके हैं—*'तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन। बरनउँ रामचरित भवमोचन॥'*, *'सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥'*, *'जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी॥'*, *'सो जानइ जेहि देहु जनाई॥'* इत्यादि कारणोंसे शङ्काके लिये कोई स्थान नहीं है।

**सुंदरता कहुँ सुंदर करई। छबिगृह दीपसिखा जनु बरई॥ ७॥**
**सब उपमा कबि रहे जुठारी। केहि पटतरौं बिदेहकुमारी॥ ८॥**

शब्दार्थ—पटतरना=बराबर करना; उपमा देना।

अर्थ—सुन्दरताको भी सुन्दर करती है। मानो छबिरूपी घरमें दीपककी लौ जल रही है॥ ७॥ कविलोगोंने सब उपमाओंको जूठार (जूठी कर) डाला है। विदेहकुमारी श्रीजनकनन्दिनीजीकी किससे उपमा दूँ ?॥ ८॥

पं० राजारामशरण—'*सुन्दरता कहुँ*·····' यह अर्धाली काव्यकलामें बहुत ही उत्तम स्थान रखती है। इससे कविकी विश्वसाहित्यपर विजय प्रमाणित होती है।

'*सुन्दरता कहुँ सुंदर करई*' इति। अमेरिकाके एक प्रोफेसरने शैक्सपियरकी इस पंक्तिकी, कि 'Frailty, thy name is Woman, (कमजोरी तेरा नाम स्त्री है) कि बड़ी प्रशंसा की है। कारण कि उपमान और उपमेय दोनों व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ हुआ करती थीं और व्यक्तिवाचक संज्ञामें विचार सीमित होता है। (इसीसे तो वह नामरूपात्मक है) परंतु कविने एकको गुणवाचक करके असीमित बना दिया। ('कमजोरी' गुणवाचक है, इस कारण उसकी सीमा नहीं,) हिन्दूविश्वविद्यालयके प्रोफेसर श्रीयाजनिकजीने बताया था कि उपर्युक्त प्रोफेसरने इतनी प्रशंसा की है कि यहाँतक कह दिया है कि यदि शैक्सपियरका सब साहित्य नष्ट हो जाय और केवल यह पंक्ति बच रहे तो भी वह संसारका श्रेष्ठ कवि प्रमाणित होगा। हमारे कविका यह चरण इससे कहीं बढ़कर है, कारण कि श्रीसीताजीको, सुन्दरतावाले विचारका जो गुणवाचक है उसका भी सुन्दर करनेवाला लिखा है। ठीक भी है। श्रीसीताजी अप्राकृतिक हैं और प्राकृतिक शब्द भी तो चाहे गुणवाचक ही क्यों न हों, सीमित ही हैं। और यहाँ उसका वर्णन है कि जिसके अंशसे 'अगणित उमा रमा ब्रह्मानी' उत्पन्न होती हैं। मगर कविका चमत्कार यह है कि '*जनु*' की उत्प्रेक्षा करके अतिशयोक्तिद्वारा कलाको नाटकीय और शृङ्गारकी ही श्रेणीमें रखे हुए है, जिसमें रोचकता बनी रहे। महाकाव्यकी उड़ानको सुन्दरतामें छिपाये रखा है।

☞ क्या पाश्चात्त्य साहित्यपर इस प्रकार विजय नहीं हुई?

अब दूसरा चरण लीजिये—'*छबिगृह दीपशिखा जनु बरई।*' मेरे संस्कृत साहित्यके विज्ञ मित्रोंने मुझे बताया है कि कालिदासको 'दीपशिखावाला' कालिदास कहते हैं, कारण कि उन्होंने एक जगह प्रेमिकाको उस दीपशिखासे उपमा दी है जिसके कारण अँधेरा बाजार जगमगा उठे*। अँधेरेमें उजाला करना तो कोई चमत्कार न हुआ, हमारे कविने तो '*छबिगृह दीपसिखा*' उजालेमें उजाला पैदा किया है और उसे प्रमाणित भी किया है। सबेरे सूर्योदयके बाद भी श्रीसीताजीकी सुन्दरताका प्रभाव श्रीरामपर यह पड़ा है कि वे लक्ष्मणसे कहते हैं कि '*करत प्रकास फिरत फुलवाई*'—यह है '*सूरजको चिराग दिखाना*'! इस प्रकार पूर्वी साहित्यपर भी विजय हुई। क्या इस प्रकार पूरी अर्धालीमें विश्वसाहित्यपर विजय न हुई?

श्रीसीताजीके सम्बन्धकी उपमाओंके चढ़ावको देखते चलियेगा। आप '*एहि बिधि उपजइ लच्छि जब*···' वाले प्रसंगपर पहुँचकर यह अनुभव करेंगे कि आप विश्वसाहित्यके 'मेरु' (सुमेरु) पर्वत (हिमालय नहीं) की भी उच्चतम चोटीपर हैं।

कविने साफ आगेकी अर्धालीमें बता दिया है कि 'राम' का हृदय (शुद्ध प्रेमके कारण) कवियोंकी जुठारी उपमाओंका प्रयोग नहीं करना चाहता।

प० प० प्र०—'*जनु बिरंचि*··*बिरचि बिस्व कहुँ प्रगटि जनाई*' इसकी सराहना करनेपर भी समाधान

---

* 'संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा। नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥ रघुवंश षष्ठ सर्ग॥ ६७॥' पतिका वरण करनेवाली इन्दुमती रात्रिमें चलनेवाली दीपशिखाकी तरहसे जिस-जिस राजाको छोड़कर आगे बढ़ी वह-वह राजा राजपथके अट्टकी तरह कान्तिहीन होता गया। रघुवंशके इस उद्धरणमें कालिदासजीने स्वयंवरमें जयमाल लिये राजाओंको देखती चलती हुई इन्दुमतीको चलती हुई दीपशिखाके समान कहा है।

नहीं हुआ तब कहते हैं कि सुन्दरताको सुन्दर करनेवाली यही है। सौन्दर्य, लावण्य, रूप, शोभा, कान्ति, द्युति और छबि आदि जितने भी आदरणीय और हृदयप्लावित करनेवाले गुण हैं वे सब इस विदेहकुमारीसे ही मिले हैं। यह कथन उचित ही तो है, क्योंकि *'नगर नारि नर रूप निधाना। सुघर सुधरम सुसील सुजाना। तिन्हहिं देखि सब सुर सुरनारी। भए नखत जनु बिधु उजियारी॥'* (३१४। ६-७) जिनका सौन्दर्य ऐसा है वे भी युगल किशोरोंको देखकर मोहित हो गये और अब उन रघुवीरको भी श्रीसीताजीके सौन्दर्यने मोहित कर उनके मनको सुखी किया। भाव यह कि श्रीरामजीका सौन्दर्य भी श्रीसीताजीके कारण ही है। निर्गुण-निराकार ब्रह्ममें तो सौन्दर्यादि कुछ भी गुण नहीं हैं, वह अगुण है। ऐसे ब्रह्मको सगुण-साकार बनानेमें *'आदिसक्ति छबिनिधि जगमूला'* की ही सहायता होती है। निर्गुण ब्रह्म आदिशक्तिके संयोगसे ही सगुण और क्रियाशील बनता है। इस प्रकार यह शृङ्गाररसका वर्णन भी आधिदैविक और आध्यात्मिक अर्थसे परिपूर्ण है। अन्य धर्मावलम्बियोंके काव्यमें अध्यात्म और इतिवृत्त (व्यवहार) का ऐसा मधुर सम्मिलन नहीं है और मानसके अतिरिक्त अन्य शृङ्गाररसप्रधान काव्यमें भी भौतिक, दैविक और आध्यात्मिक अर्थरूपी त्रिवेणीका संगम मिलना दुर्लभ है।

टिप्पणी—१ (क) सुन्दरताको सुन्दर करना यही है कि सखियोंका मण्डल छबिगृह है, श्रीजानकीजी दीपशिखा हैं। दीपक गृहको शोभित करता है। श्रीजानकीजी सखिमण्डलको शोभित करती हैं, यथा—*'सखिन्ह मध्य सिय सोहति कैसे। छबिगन मध्य महाछबि जैसे॥'* (२६४। १), *'सोहति बनिताबृंद महुँ सहज सुहावनि सीय। छबि ललनागन मध्य जनु सुखमा तिय कमनीय॥'* (३२२) (ख) 'ब्रह्माने विश्वको प्रकट दिखा दिया (कि) जानकीजी दीपशिखासम (हैं)' इस कथनसे पाया गया कि विश्व पहले अंधकारमय था, अब श्रीजानकीजीके प्रकाशसे प्रकाशित हुआ। (ग) प्रथम जानकीजीकी सुन्दरता कही कि *'सुंदरता कहुँ सुंदर करई'* फिर उनको दीपशिखा कहते हैं। तात्पर्य यह है कि यदि पहिले सुन्दरता न कहते, केवल दीपशिखा ही कहते तो जानकीजीकी सुन्दरता न पायी जाती (वे सुन्दर हैं, यह निश्चय न कहा जा सकता। क्योंकि सभी स्त्रियोंको कविने दीपशिखासम कहा है, यथा—*'दीपसिखा सम जुबति तन मन जनि होसि पतंग।'* (३। ४६)

नोट—१ कोई भी घर कितना ही छबिपूर्ण क्यों न हो, यदि उसमें दीपक न जलता हो तो उसकी शोभा नहीं। दीपककी रोशनी पानेपर ही वह शोभित होता है। इसी तरह आपकी सुन्दरता मूर्तिमान् सुन्दरतामात्रको शोभित करनेवाली है, सुन्दरताको भी जो सुन्दरता मिली है वह आपसे ही मिली है। पाँड़ेजी लिखते हैं कि भाव यह है कि 'विरंचिरचित सुन्दरताई अँधेरी पड़ी थी, उसे इन्होंने अपने रूप (के) प्रकाशसे शोभित कर दिया।'*

वि० त्रि०—जितनी सुन्दरताएँ हैं वे इस सुन्दरताकी उपजीवी हैं, यथा—*'जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥'* अर्थात् इस सुन्दरतासे ही सब सुन्दरियोंने सुन्दरता पायी है। यह कोई दिव्य तेज है, इसीलिये दीपशिखा कहते हैं (जिसमें न तेल है न बत्ती, न धुआँ है)। दीपशिखा स्वयं प्रकाशमान है और घरको भी प्रकाशित करती है। इसी भाँति सीताजीकी दिव्य शोभासे सखीगण भी शोभायमान हैं।

प० प० प्र०—*'छबिगृह दीपसिखा'''*' इति। यहाँ लावण्यमें जो कान्ति द्युति (तेजस्विता) रहती है उसको सूचित किया है। सौन्दर्यमें कान्ति, द्युति न हो तो उसकी कीमत मुरदेके सौन्दर्यके समान ही होगी। दीपशिखा तो अन्धकारका ही विनाश करती है पर यह दीपशिखा ऐसी प्रचण्ड है कि दिनमें भी *'करत प्रकास फिरइ फुलवाई।'*

---

* मिलान कीजिये—'केयं श्यामोपलविरचितोल्लेखहेमैकरेखा लग्नैरङ्गैः कनककदलीकन्दलीगर्भगौरैः। हारिद्राम्बुद्रवसहचरं कान्तिपूरं वहद्भिः कामक्रीडाभवनवलभीदीपिके वाविरस्ति।'(प्र० रा० २। ७) अर्थात् यह कौन है जो श्याममणिके भीतर मानो सोनेकी रेखा है, जिसके अंगमें लगे हुए भूषण केलेके बीचमें लगे हुए सोनेके समान गौर हैं। जान पड़ता है कि कामके उस क्रीड़ाभवनके, जिसमें पीले हलदीके सौन्दर्यमय जलके फुहारे छूट रहे हैं, अटारीके दीपक-सरीखे जाज्वल्यमान है। (यहाँ गौर शरीरपर नीली साड़ी पहने हैं और सखियाँ गौरवर्णा हैं। सखियोंको पीले जलका फुहारा कहा है।)

साधारण प्राकृतिक युवतितनको भी मानसमें *'दीपसिखा'* कहा है, यथा—*'दीपसिखा सम जुबति तनु मन जनि होसि पतंग।'* (३। ४६)

सीताजी ब्रह्मविद्या हैं। उनकी कृपासे ही अविद्यादि पञ्चक्लेशोंका संहार होता है और सर्वश्रेयकी प्राप्ति होती है। उनके बिना सकल सौन्दर्य रहनेपर भी जन्म-मरण-परम्पराका अन्त नहीं होता है। अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश करनेवाली प्रचण्ड दीपशिखा सीताजी ही हैं। **'तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥'**(गीता १०। ११) (अर्थात् निरन्तर मुझमें लगे हुए भजन करनेवाले भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये मैं उनके आत्मभावमें स्थित होकर उनके अज्ञानसे उत्पन्न अन्धकारको प्रज्वलित ज्ञानदीपकसे नाश कर देता हूँ), पर यदि इस ज्ञानदीपकमें प्रचण्ड शिखा न हो तो भगवान् तमका नाश कैसे करेंगे? अतः मानसमें ही कहा है *'सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा। दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा॥'* इस तरह यहाँ भी अध्यात्म भर दिया है।

टिप्पणी—२*'सब उपमा कबि रहे जुठारी।···'* इति। (क) *'रहे जुठारी'* जूठा कर दिया है। अर्थात् प्राकृत स्त्रियोंके लिये सभी उपमाओंको प्रयोगमें ला चुके हैं। एक वा अनेक बार उन उपमाओंका औरोंमें लगाना ही उनका जूठा करना वा जुठारना है, वह अब उनकी जूठ नहीं हुई। जैसे कोई भोजन किसीको प्रथम अर्पण किया जाय तो उनके ग्रहण करनेके बाद वह उनका जूठन कहलाता है। अतएव *'जुठारी'* का भाव यह हुआ कि प्राकृत स्त्रियोंके अङ्गमें लगनेसे वे सब उपमाएँ भी लघु (तुच्छ) हो गयीं, इससे हम उन उपमाओंको विदेहकुमारीमें नहीं लगा सकते, यथा—***'उपमा सकल मोहि लघु लागीं। प्राकृत नारि अंग अनुरागीं॥ सिय बरनिय तेइ उपमा देई। कुकबि कहाइ अजसु को लेई॥'*** (१। २४७) और नयी उपमा कोई हमें मिलती नहीं जो हम दें। उनके पटतरका कोई देखने-सुननेमें भी नहीं आया, यथा—***'जौं पटतरिय तीय सम सीया। जग अस जुबति कहाँ कमनीया॥ गिरा मुखर तन अरध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी॥ बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही। कहिय रमा सम किमि बैदेही॥'*** (१। २४७) यह शोभा अनूठी है।

नोट—२ यह सब सराहना हृदयकी है; यथा—*'सिय सोभा हिय बरनि प्रभु···।'* देखिये उपमाकी खोजमेंकी कठिनताके सम्बन्धसे यहाँ *'बिदेहकुमारी'* कितना बड़ा शब्द दिया—*'बिदेहकुमारी'*—छः अक्षरोंका और उसपर भी विदेहकी कुमारी कहा। (अर्थात् जो देहरहित हैं, उनकी यह कन्या हैं, 'सदेह कुमारी' हो तो उसकी प्राकृतिक उपमा भी मिल जाय और ये तो अप्राकृतिक हैं तो प्राकृतिक देहकुमारियोंवाली उपमाएँ इनमें कैसे लगायी जा सकें?) और जब शोभाका वर्णन करना कहेंगे तब कितना छोटा और प्यारा शृङ्गाररसयुक्त शब्द *'सिय'* का प्रयोग करेंगे। यह कविकी उक्ति प्रशंसनीय है। श्रीयुत राजबहादुर लमगोड़ाजीने एक लेखमें लिखा था कि—(क) *'बिदेहकुमारी'* इत्यादिवाला उच्च व्यक्तित्व इस छोटेसे सुन्दर नाममें विलीन हो गया; क्योंकि उपमाकी खोजके खयालमें काठिन्य-प्रिय-मस्तिष्क उसके उपर्युक्त व्यक्तित्वको चाहे जितना भी स्पष्ट करता, पर वस्तुतः इस शृङ्गारी दृश्यमें छोटी राजकुमारी *'सिय'* ही हमारे सामने पेश की गयी हैं।' (ख) 'सुन्दरताकी प्राकृतिक वास्तविकतासे 'विदेहकुमारी' के काव्यपूर्ण चिन्तनकी उड़ान भी दर्शनीय है'।

नोट—३ 'अन्तमें *'केहि पटतरौं'* का स्वयं अपनेसे प्रश्न कैसा सुन्दर और समयोचित है? ऐसे प्रश्नोंद्वारा मुग्धतासे सहसा सचेत हो जानेके उदाहरण साहित्यिक जगत्में अकसर मिलते हैं।'—(माधुरीसे)

श्रीराजारामशरण (लमगोड़ाजी)—'विदेहकुमारी' का अर्थ है 'बिना देहवाली कुमारी' वा, वैसे (बिना देहवाले) राजाकी पुत्री। तब तो कविका यह कहना ठीक ही है कि *'प्राकृत नारि अंग अनुरागी'* वाली उपमाएँ ठीक न होंगी। यदि इतना ही शाब्दिक औचित्य (लफ़्जी तलाज़मा) होता तो 'नसीम' की ही बराबरी होती जैसा *'सौदा है मेरी बकावली को। है चाह बसर की बावली को।'* मगर 'नसीमके पदमें अगर कहीं रेखाङ्कित शब्दोंका 'कुवाँ' और 'बावली' (बड़ा कुआँ) अर्थ कर दिया जावे तो कोई अर्थ ही नहीं होता। मगर हमारे कविका कमाल यह है कि दोनों बातें निभ जाती हैं—'सीताजी' दिव्य व्यक्ति

हैं, इस कारण उन्हें वैसा कहा और उधर 'विदेह' योगिराजकी कन्या होनेके सम्बन्धसे भी वैसा कहना उचित ही है। ठीक है, योग गुणके लिये प्राकृतिक उपमा नहीं मिल सकती।

**दो०—सिय सोभा हिय बरनि प्रभु आपनि दसा बिचारि।**
**बोले सुचि मन अनुज सन बचन समय अनुहारि॥ २३०॥**

अर्थ—हृदयमें श्रीसीताजीकी शोभाका वर्णन करके और अपनी दशाको विचारकर पवित्र मन (वाले) प्रभु अपने छोटे भाईसे समयानुकूल वचन बोले॥ २३०॥

टिप्पणी—१ (क) *'देखि सीय सोभा सुखु पावा। हृदय सराहत बचनु न आवा॥'* (२३०। ५) उपक्रम है और *'सिय सोभा हिय बरनि प्रभु'* उपसंहार हैं। तात्पर्य कि वहाँसे लेकर यहाँतक प्रभुने श्रीसीताजीकी शोभा मनमें वर्णन की। मनकी बात कैसे प्रकट हुई? (उत्तर) गुरुप्रसादसे, यथा—*'श्रीगुर पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती॥ दलन मोहतम सो सप्रकासू। बड़े भाग उर आवइ जासू॥ उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भव रजनी के॥ सूझहिं राम चरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥'* (दोहा १। ५—८)—(इस प्रश्नका उत्तर ऊपरकी चौपाईमें लिखा गया है) [(ख) शोभारूपी रत्नको 'हिय वर्णन' रूप डब्बेमें सम्पुट किया; *'जनु बिरंचि सब निज निपुनाई'* से *'केहि पटतरौं बिदेहकुमारी'* तक शोभामय रत्न है, नीचेका पेंदा छोटा होता है, वैसे ही यहाँ शोभा-वर्णनके उपक्रमवाली चौपाई *'देखि सीय सोभा''* छोटी है। ऊपरका ढक्कन बड़ा होता है, वैसे ही यहाँ उपसंहारका दोहा बड़ा है। (प्र० सं०)]

नोट—१ *'प्रभु'* इति। *'प्रभु'* शब्द देकर यहाँ मानवीयता एवं आध्यात्मिकताका सम्मिश्रण और वास्तविकता एवं चिन्तनाका सम्मिलन दिखाया है। श्रीरामजीको अपने भावोंपर काबू है, अधिकार है, इसीसे उनको *'प्रभु'* कहा। यह शब्द देकर कवि हमें चेतावनी दे रहा है कि कहीं हम दुराचाररूपी गर्तमें जाकर न गिर पड़ें। इस शब्दसे वह बताता है कि श्रीरामजी किसी प्राकृतिक प्रयोजन वा बाह्यसौन्दर्यके कारण प्रेमासक्त नहीं हुए हैं। (लमगोड़ाजी। आगे पूरा लेख देखिये।)

टिप्पणी—२ *'आपनि दसा बिचारि'* इति। (क) दशा यह बिचारी कि श्रीजानकीजीकी शोभा देखकर हमारा मन चलायमान (विचलित, क्षुब्ध) हो गया है, दक्षिण अङ्ग फड़क रहे हैं। पुनः, [(ख) अपनी दशा बिचारनेमें धर्मपरायणता और सदाचारकी दृढ़ता व्यंजित होती है। (वीर) वा, (ग) मुखसे बोल न निकला। स्वेद, कंप, रोमाञ्च, विवर्णता, स्वरभंग, प्रलय अर्थात् विह्वलता आदि छओं सात्त्विक अनुभाव देहमें प्रकट हैं। प्रेमासक्त हो गये हैं। प्रेमकी उक्त दशा वर्तमान है।—इस अपनी दशाको विचारकर। (वै०) वा, (घ) दशा विचारना यह कि यह कैसी हुई अथवा यह दर्शन बिना शुभ ग्रहोंके उदयके कहाँ हो सकता? (रा० प्र०)]

टिप्पणी—३ (क) इस दोहेमें दो बातें कहते हैं—एक तो श्रीसीताजीकी शोभा, दूसरे अपनी दशा। आगे दोहेतक इन्हीं दोनोंका क्रमशः विस्तार (व्याख्या) है। प्रथम श्रीसीताजीकी वार्ता करेंगे, फिर अपनी दशा कहेंगे, अपने मनकी शुचिता कहेंगे। (ख) अनुज श्रीलक्ष्मणजीसे कहने लगे हैं—*'कहत लखन सन रामु हृदय गुनि', 'बोले सुचि मन अनुज सन'।* इसीसे आगे अनुजको ही सम्बोधन करेंगे; यथा—*'तात जनक तनया यह सोई', 'करत बतकही अनुज सन।'* [ (ग) *'बरनि'* और *'बिचारि'* अपूर्ण क्रियाएँ भावोंमें तात्कालिक परिवर्तनका संकेत जना रही हैं] (घ) *'सुचि मन'* इति। श्रीलक्ष्मणजी और गुरुजीसे शृङ्गारका कथन करना अनुचित है। गोस्वामीजी *'सुचि मन'* विशेषण देकर इसका समाधान करते हैं। श्रीरामजी 'शुचिमन' हैं। अर्थात् उनके मनमें छल-कपट नहीं है। यथा—*'निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥'* (५। ४४) इसीसे उन्होंने अनुजसे और गुरुजीसे भी कहा; यथा—*'राम कहा सब कौसिक पाहीं। सरल सुभाउ छुआ छल नाहीं॥'* (२३७। २) [*'सुचि मन'* श्रीरामजीका विशेषण है। जो बात साधारणतः लोग भाई आदिसे नहीं कहते वह यहाँ कही गयी है। इसीलिये इस विशेषणसे

उसका समाधान किया गया है। पांडेजीका मत है कि 'यह लक्ष्मणजीका भी विशेषण है। श्रीरामजी आगे अपने मनको क्षुभित कहेंगे, यथा—'*सहज पुनीत मोर मन छोभा।*' श्रीलमगोड़ाजीका लेख भी देखिये। प्र० स्वामी पाँड़ेजीसे सहमत हैं। लक्ष्मणजीका मन पवित्र है यह जानकर ही श्रीरामजी अपने हृदयकी दशाका चित्र शब्दोंमें प्रकट करते हैं, पर समयानुसार ही कहते हैं। श्रीसीताजीका और अपना अवतार-रहस्य प्रकट नहीं करते हैं, माधुर्य भावसे ही देश, काल और परिस्थित्यनुसार ही कहते हैं।]

प० प० प्र०—दोहा २२९ में श्रीसीताजीकी पुरातन प्रीतिकी शुचिता नारद-वचनसे सिद्ध हुई। यहाँ श्रीरामजीके रूपासक्तिकी शुचिता 'प्रभु' शब्दसे जनायी। राम प्रभु हैं, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और त्रिकालज्ञ हैं। उन्हें इसकी सब भावी घटनाओंको जाननेमें विलम्ब न लगा। पुरातन प्रेम काल-धर्मानुसार जाग्रत् हुआ है, यह जान लिया और इस जानकारीसे निश्चय किया कि इसमें कुछ भी अपवित्रता नहीं है, मनमें केवल रूपासक्ति उपजी है, उस शरीरपर प्रेम, ग्राम्यवासना, सम्भाषण या स्पर्श करनेकी इच्छा इत्यादि अपवित्रताका स्पर्शतक मनको नहीं हुआ है। मन शुचि है।

नोट—२ '*बोले सुचि मन अनुज सन*' इति। विचारोंमें अपवित्रताका लेशमात्र नहीं है; इसीसे छोटे भाईसे कहनेमें कोई अनुचित लज्जा भी नहीं है। मुख्य प्रयोजन जिसने '*आपनि दसा*' का 'विचार' होते ही लक्ष्मणजीकी उपस्थितिके खयालसे श्रीरामजीकी जबानके कुफल (ताले) को खोल दिया निम्नलिखित है—(क) लक्ष्मणजी श्रीरामजीके छोटे भाई हैं। अतः श्रीरामजीको कोई ऐसा कार्य न करना चाहिये, जिससे उनके अनुयायीपर बुरा प्रभाव पड़े। प्रकटमें यह प्रेमिक-प्रेमिकाके पारस्परिक अवलोकन ('*भए बिलोचन चारु अचंचल*') की मुग्धता तथा हृदयरूपी जिह्वाद्वारा व्याख्याके समय शारीरिक स्तब्धता—ये सब बातें सम्भवतः लक्ष्मणजीपर बुरा प्रभाव डालतीं और कदाचित् ऐसा विचार उत्पन्न कर देतीं कि प्रेममें यह सभी उचित है। अतः श्रीरामजीको सब कार्योंकी व्याख्या उचित एवं अनिवार्य है, जो जिह्वाप्रयोगके बिना नहीं हो सकती। (ख) सम्भवतः श्रीरामजीके दिलमें यह खयाल रहा हो कि कदाचित् लक्ष्मणके हृदयमें छिद्रान्वेषणका खयाल पैदा हो, इसलिये सफाई जरूरी है। पर यह खयाल केवल खयाल ही है। (ग) सच्चे प्रेमको अपने सम्बन्धियोंसे छिपानेकी आवश्यकता नहीं और न वह एक शुद्ध एवं आकस्मिक भाव होनेके कारण छिप ही सकता है।'—(श्रीलमगोड़ाजी। माधुरी वर्ष ५ खण्ड २ संख्या ६ से उद्धृत)—'*अनुज सन*' के और भाव '*कहत लखन सन*'*।*' (२३०। १) में दिये गये हैं। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'रामजी शुचिमन हैं, इसलिये इन्हें भी प्रीति पुनीत उपजी। कामसे संग्राम उपस्थित है, भाईकी सहायता चाहते हैं, अतः बोले।'

नोट—३ '*बचन समय अनुहारि*' इति। '*समय अनुहारि*' पद दोहे में कहे हुए '*सिय सोभा हिय बरनि प्रभु*', '*आपनि दसा बिचारि*' और 'बोले'— इन तीनोंके साथ है। तीनों सूत्ररूप हैं। इनकी व्याख्या आगे आठ अर्धालियोंमें क्रमसे की गयी है। जो बातें आगे कहते हैं उन्हींका समय है। इसीसे '*समय अनुहारि*' कहा। [प्र० सं० में हमने लिखा था कि 'किशोरीजी इस समय समीप हैं। अतः उन्हींकी वार्ता इस समय करना '*समय अनुहारि*' बात करना है।']

श्रीयुत मुं० राजबहादुर लमगोड़ाजी—'तुलसीदासजीके नाटकीय सिद्धान्तानुसार कवि निरन्तर ही रंगमंच और उपस्थित जनोंके दर्मियान व्याख्याता बनकर विद्यमान रहता है और समयानुसार हमें चेतावनी देता रहता है कि कहीं हम दुराचाररूपी गर्तमें जाकर न गिर पड़ें और एक निर्लिप्त भ्रमरकी भाँति सदुपदेशरूपी शुद्ध रस लेते हुए पुष्पके रंगरूपपर आसक्त होकर कहीं आदर्शच्युत न हो जावें, इसलिये कोई-न-कोई आध्यात्मिक व्यक्तित्व भी दूर, परंतु दृष्टिसीमाके भीतर ही एक विचित्र रीतिपर उपस्थित रहता है। यहाँ तुलसीदासजी स्वयं ही भक्त कविकी हैसियतसे सामने हैं और '*प्रभु*' शब्दमें उसीकी ओर संकेत है। व्याख्या आगे है। हमें स्थान-स्थानपर मानवीयता एवं आध्यात्मिकताका सम्मिश्रण तथा वास्तविकता एवं चिन्तनाका सम्मिलन दृष्टिगोचर होता है। हमारा कवि दिशासूचक यन्त्रकी सूईकी तरह और आध्यात्मिक व्यक्तियाँ (शिव-पार्वती इत्यादि) ध्रुवनक्षत्रकी भाँति इस संसारके कंटकाकीर्ण पथमें हमारे पथप्रदर्शकके समान मौजूद

हैं। 'प्रभु'—इतने ही संकेतके अतिरिक्त यदि 'प्रभु' के व्यक्तित्वको अधिक बढ़ाया जावे तो शृङ्गारका रङ्ग फीका पड़ जावेगा। कवि भक्त है और उसका अभिप्राय यह है कि हम इस शृङ्गारी दृश्यमें आध्यात्मिक आभासको एकदम भूल न जावें। पर साथ ही यह भी स्वीकार नहीं है कि उक्त आभासपर अभीसे इतना खयाल करें कि शृङ्गारका आनन्द ही जाता रहे। वस्तुतः इस शृङ्गारी दृश्यमें भी रामसे ऐसा कोई कार्य नहीं हुआ जिससे उनके प्रभुत्वपर कोई आक्षेप हो सके और यही कारण है कि रामको मर्यादापुरुषोत्तम कहते हैं। वे आगे स्पष्ट कहते हैं कि *'मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी'* अर्थात् मुझे अपने हृदयपर पूर्ण विश्वास है और अगर फिर भी हृदय सीताकी ओर खिंच जाता है तो निस्संदेह उसका कारण 'विधाता' का कोई अनादि सिद्धान्तका आध्यात्मिक उद्देश्य है। बहरहाल सिर्फ किसी प्राकृतिक प्रयोजन व बाह्य सौन्दर्यके कारण रामचन्द्रजी प्रेमासक्त नहीं हुए। यही है मानवीयता एवं आध्यात्मिकताका सम्मिश्रण और वास्तविकता एवं चिन्तनाका सम्मिलन।

सांकेतिक रीतिपर दूसरे अर्थमें क्या यह 'प्रभु' होनेका हेतु नहीं है कि 'उन्हें अपने भावोंपर काबू है, अधिकार है?'

*'शुचि मन''समय अनुहारि'* इति। 'न अपवित्रताका विचारोंमें लेश है और न इसलिये कोई अनुचित लज्जा है।' सात्त्विक प्रेममें अधिक लज्जाकी आवश्यकता नहीं है। यद्यपि इतनी लज्जा स्वाभाविक है, जिसे कविने यों प्रकट किया है—'कुछ तो है जिसकी पर्दादारी है।' अतः इतनी ही लज्जा यहाँ भी है। राम और लक्ष्मणकी वार्ता उस लज्जा एवं प्रेमके मिलनकी व्याख्या है। प्रेमकी गहनता इस धरातलपर प्रकट भी है और वह स्वयं गुप्त भी है। इसीलिये तो इस वार्ताके निमित्त तुलसीजी *'बतकही'* शब्दका प्रयोग करेंगे। सदाचारकी दृष्टिसे भी कुछ लज्जा आवश्यक है, क्योंकि वार्ता छोटे भाईसे है।'

**तात जनकतनया यह सोई। धनुष जग्य जेहि कारन होई॥ १॥**
**पूजन गौरि सखीं लै आई। करत प्रकास फिरहि फुलवाई॥ २॥**

अर्थ—हे तात! यह वही जनककुमारी है जिसके लिये धनुषयज्ञ हो रहा है॥ १॥ गौरीपूजनके लिये सखियाँ (वा सखियोंको) लेकर आयी हैं।* फुलवारीमें प्रकाश करती हुई फिर रही है॥ २॥

टिप्पणी—१ *'तात जनकतनया यह सोई।'* (क) यह *'सिय सोभा हिय बरनि प्रभु'* जो दोहेमें कहा था उसीकी व्याख्या वा विस्तृत वर्णन है। जिसकी शोभा हृदयमें वर्णन की उसीकी वार्ता करने लगे। (ख) *'जनकतनया यह सोई'*—भाव कि श्रीजनकमहाराजके एक कन्या और भी है, पर यह वह है जिसके कारण धनुषयज्ञ हो रहा है। पुनः, [(ग) *'सोई'* से प्रकट है कि परिचितकी भाँति इनका परिचय दिया जा रहा है। यहाँ 'प्रत्यक्ष प्रमाण अलङ्कार' है। यथा—*'इंद्रिय अरु मन ये जहाँ विषय आपनो पाय। ज्ञान करैं प्रत्यक्ष तेहि कहैं सकल कविराय॥'* (अ० मं०) (घ) कैसे जाना कि इसीके लिये धनुषयज्ञ हो रहा है? इसका उत्तर केशवदासकृत 'रामचन्द्रिका' में यह मिलता है कि विश्वामित्रजीके पास जो निमन्त्रण गया था उसमें श्रीजानकीजीका और यज्ञशालाका चित्र भी था। अतः श्रीरामजीने *'सोई'* से उसीका स्मरण कराते हुए परिचय दिया है। अथवा, गौरीपूजनके लिये आयी हैं, इससे जान लिया कि इन्हींके लिये धनुषयज्ञ हो रहा है। ब्याहके एक दिन पूर्व सौभाग्यके लिये गौरीपूजन करनेकी विधि है ही, यह पूर्व बतलाया जा चुका है। अथवा, अलौकिक शोभासे जान लिया कि इसीके लिये धनुर्भङ्गकी प्रतिज्ञा है।]

नोट—१ (क) उधर सखी सखीसे कहती है—*'एक कहै नृपसुत तेइ आली। सुने जे मुनिसंग आये काली॥'* यहाँ सब सयाने इकट्ठे हैं। अनुमानसे ही पहिचान हो गयी। इधर प्रभु कहते हैं। *'तात जनकतनया*

---

* इसके दोनों अर्थ किये जाते हैं। श्रावणकुंजकी पोथीमें 'सखीं' 'लै आई' पाठ है। 'सखीं' का अर्थ 'सखियोंको' लेनेसे 'आई, करत, फिरहि' सब क्रियाओंका एक कर्ता श्रीजानकीजी होती हैं।

*यह सोई।"'* आगे इस अनुमानका आधार कहते हैं। (वि० त्रि०) (ख) *'धनुषजग्य जेहि कारन होई'* से श्रीसीताजीकी प्राप्ति केवल धनुर्भङ्गसे सूचित करते हुए श्रीरामजीका प्रेमोद्गार झलक रहा है।' (रा० च० मिश्र)

नोट—२ 'शुद्ध आचरणसम्बन्धी विचार दर्शनीय है। कोई अन्य कवि 'प्रेमिका' 'प्रियतमा' इत्यादि संज्ञावाचक शब्दोंको श्रीसीताजीके लिये श्रीरामजीसे अवश्य ही प्रयुक्त करा देता। पर क्या मजाल कि तुलसीदासजीकी कवितामें ऐसी एक भी बात आ सके। श्रीसीताजी कितनी ही सुन्दर और श्रीरामजीकी अप्रकट भावना कितनी ही दृढ़ सही, परंतु अभी आकस्मिक है, आचार एवं मर्यादाकी छाप उसपर नहीं हुई, अतः श्रीसीताजी केवल उसी तरह एक बाह्य वस्तु हैं जैसे कोई सुन्दर चित्र वा पुष्प। इन शब्दोंमें आकस्मिक अनुभव एवं आचारसम्बन्धी बन्धनका एकीकरण एवं पृथक्करण दोनों प्रशंसनीय हैं। अर्थात् अभी श्रीरामजीके पवित्र हृदयमें केवल सौन्दर्यका आभास है और प्रेमजनित भाव अप्रकट ही है। विवाहके पश्चात् 'प्रिया' शब्दका श्रीसीताजीके लिये बहुधा प्रयोग पृथक्करणको निभानेके लिये है।' (श्रीलमगोड़ाजी 'माधुरी' से)

टिप्पणी—२ *'पूजन गौरि सखीं लै आई।"'* इति। (क) *'धनुषजग्य जेहि कारन होई'* के *'होई'* शब्दसे जनाया कि धनुषयज्ञ कल होगा। इसका प्रमाण यह है कि आज चन्द्रमाकी कथा कहकर शयन करेंगे और सबेरे उठकर सूर्यकी कथा कहकर स्नान करके बैठते ही धनुषयज्ञ देखनेके लिये जनकजीका बुलावा आया। इसीसे आज गौरी-पूजनके लिये सखियाँ ले आयी हैं। [(ख) राजकुमारी अभी बहुत छोटी है। इसीसे सखियोंका ले आना कहा। (प्र० सं०) पुनः (ग) *'सखीं लै आईं'* से मर्यादा और गौरव सूचित किया। (रा० च० मिश्र) छोटी न भी होतीं तब भी अकेली पूजनके लिये न भेजी जातीं। साथमें पूजनकी सामग्री, स्नानके वस्त्र आदि अवश्य ही और सहेलियाँ वा दासियाँ लेकर चलतीं। बड़े लोगोंमें तो यह नित्य ही देखा जाता है।] (घ) *'करत प्रकास फिरहि फुलवाई'* इति। भाव कि गौरीजीका पूजन करके अब फुलवारी देखने आयी है। अपनी शोभासे फुलवारीको प्रकाशित कर रही है। यथा **'कुर्वतीं प्रभया देवीं सर्वा वितिमिरा दिशः।'**(वाल्मी० सुं० १५। २९) (यह उस समयका हाल है जब श्रीसीताजी बहुत ही दुःखी दशामें अशोकवाटिकामें लङ्कामें थीं। उस समय हनुमान्‌जीने देखा कि वे अपने प्रकाशसे सब दिशाओंको प्रकाशित कर रही हैं। तब भला इस समय उनके प्रकाशका कहना ही क्या?)

(ङ) *'प्रकास'* कहनेका भाव कि प्रथम इनको दीपशिखा कह आये हैं—*'छबिगृह दीपसिखा जनु बरई।'* और दीपशिखामें प्रकाश होता है, वही अब कहते हैं कि *'करत प्रकास।'* [पुनः भाव कि केतकी, गुलाब आदि फूल प्रकाश करनेवाले हैं, यह निज तनके गौरवर्ण-छबि-छटाके प्रकाशसे इन सबोंको तथा सब दिशाओंको प्रकाशित कर रही है (रा० प्र०, वै०) वा जबतक यह मन्दिरमें रही तबतक फुलवारी अँधेरी पड़ी थी, इनके फुलवारीमें आनेसे वह प्रकाशित हो गयी। (वै०) ☞ देखिये यह दिनका समय है। सूर्योदय हो चुका है। सूर्योदयके पश्चात् श्रीसीताजीके सौन्दर्यका जो प्रभाव श्रीरामजीपर पड़ा है उसीको कविने *'करत प्रकास फिरहि फुलवाई'* से प्रकट किया है। इससे जनाया कि सूर्यसे भी अधिक प्रकाश उनमें है। इसीसे आगे इसे *'अलौकिक सोभा'* कहते हैं कि जिसने उजालेमें उजाला पैदा कर दिया] (च) *'फिरहि'* से जनाया कि फुलवारी देखने आयी है। जहाँ-जहाँ जाती है वहाँ-वहाँ प्रकाश होता है। (छ) यहाँतक श्रीसीताजीकी वार्ता की। आगे अपनी दशा कहते हैं।

वि० त्रि०—यहाँ बागमें *'बरन-बरन बर बेलि बिताना'* के कारण अँधेरा हो रहा है, सो वह प्रकाश करती हुई फुलवारीमें घूम रही है। सिय मुख शशि है तो प्रकाश भी चाहिये।

**जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मनु छोभा॥ ३॥**
**सो सब कारन जान बिधाता। फरकहिं सुभद* अंग सुनु भ्राता॥ ४॥**

शब्दार्थ—**अलौकिक**=अनूठी, अप्राकृतिक। **छोभा**=बिचलित हो गया। **सुभद**=शुभदायक, मंगलसूचक।

* सुभग—छ०, १७०४, को० सुभद—१६६१, महात्मा चौपाई दासका टिप्पण, भा० दा०। १७२१, १७६७।

अर्थ—जिसकी अलौकिक शोभा देखकर मेरा स्वाभाविक ही पवित्र मन क्षोभको प्राप्त हो गया अर्थात् चलायमान हो गया॥ ३॥ इसका सब (वा वह सब) कारण तो विधाता ही जानें, पर हे भाई! सुनो, मेरे शुभसूचक अङ्ग अर्थात् दक्षिण अङ्ग फड़क रहे हैं॥ ४॥

श्रीलमगोड़ाजी—'प्रेमसम्बन्धी सूक्ष्मताओंके ज्ञाताओंको यह भी विदित हो कि सात्त्विक प्रेममें आत्मिक सम्बन्ध होना अत्यावश्यक है। कैसी रहस्यमयी घटना है कि राम और लक्ष्मण दोनों साथ हैं पर सीताका प्रभाव केवल रामपर पड़ता है, लक्ष्मणपर नहीं। रामजीने सत्य ही कहा है कि *'सो सब कारन जान बिधाता।'*—(माधुरीसे) यहाँ *'मोर मन छोभा'* से वही पुरातन आत्मिक सम्बन्ध सूचित किया है।

बाबू श्यामसुन्दरदासजी—'श्रीरामचन्द्रजी रघुकुलकी मर्यादा एवं अपने भावका वर्णन अगली चौपाइयोंमें करते हैं। उन्हें आश्चर्य है कि ऐसे कुलमें उत्पन्न होकर और स्वयं ऐसे होकर उनका मन चलायमान क्यों हुआ। पर वे इसका निराकरण करते हैं और कहते हैं कि असली बात तो विधाता जानें, हाँ, शुभ अङ्गोंके फड़कनेसे भविष्य शुभकी सूचना होती है।'

टिप्पणी—१ (क) *'अलौकिक सोभा'* पूर्व कह आये हैं—*'सब उपमा कबि रहे जुठारी। केहि पटतरौं बिदेहकुमारी॥'* त्रैलोक्यमें न कोई इनके समान है और न कोई इनकी उपमा ही है, यही बात *'अलौकिक'* से जनायी। (पुनः, भाव कि लौकिक स्त्रियोंमें हमारा मन चलायमान नहीं हो सकता। दूसरे यह कि प्राकृतिक समस्त उपमाएँ और जो उनके उपमेय हैं वे सब मिलकर भी इनके पटतर योग्य नहीं हैं।) (ख) *'सहज पुनीत।'* कवि पूर्व *'सुचि मन'* विशेषण श्रीरामजीको दे आये हैं, यहाँ श्रीरामजी स्वयं वही बात कहते हैं। दोनोंका एक ही भाव है [*'सहज पुनीत'* अर्थात् जो बिना साधन किये जन्मसे स्वाभाविक ही पवित्र है। =जिसमें भूलकर भी कामादिका वेग नहीं व्याप्त होता। (वै०) (ग) श्रीसीताजीकी शोभाको *'अलौकिक'* और अपने मनको *'सहज पुनीत'* 'तुरीया जानकी चैव तुरीयो रघुनन्दनः' इस भावसे कहा। अथवा तुरीयारूप जानकीजीको और परमतुरीयरूप अपने मनको कहा, क्योंकि सहजावस्था तुरीयावस्था है। यथा—'**बुद्धिव्यापारे परित्यक्ते निर्विकारस्वरूपावस्थितिर्भवति सैव सहजावस्था तुरीयावस्था जीवन्मुक्तिः।**' इति। (ज्योत्स्नाटीकाहठप्रदीपिका)—(मा० त० वि०) पांडेजी *'सहज पुनीत'* को *'अलौकिक सोभा'* का भी विशेषण मानते हैं। और रा० प्र० कार इसे लक्ष्मणजीका सम्बोधन भी मानते हैं।] (२) *'छोभा'*—क्षुभि संचलने। मन चलायमान हो गया; अर्थात् इनकी प्राप्तिकी इच्छा हुई।

टिप्पणी—२ (क) *'सो सब कारन जान बिधाता'* इति। 'मनको क्षोभ होना यही एक कारण लिखते हैं, सब कारण कौन हैं? यदि बहुत कारण होते तो *'ते सब कारन जान बिधाता'* ऐसा पाठ लिखते, *'सो'* न लिखते, *'सो'* एक वचन है?' इस शंकाका समाधान यह है कि 'मनका क्षोभ' यह एक ही बात है, इसीसे *'सो'* एकवचनवाचक शब्द दिया। मनके क्षोभके कारण अनेक हैं, इसीसे *'सबु कारन'* कहा। [*'सो सबु कारन'''* अर्थात् सो (=उसके, अर्थात् मेरे मनके क्षुभित होनेके) बहुत कारण जो हैं। उनमेंसे एक यह है कि इनकी शोभा अलौकिक है और जो अन्य कारण हों उनको विधाता जानें।] (ख) मनके क्षोभके अनेक कारण हुआ करते हैं, जैसे कि—काम। इससे मन क्षुभित हो जाता है, यथा—*'छाँड़े बिषम बिसिख उर लागे। छूटि समाधि संभु तब जागे॥ भएउ ईस मन छोभ बिसेषी।'* (१। ८७) पुनः, *'काल स्वभाउ करम बरिआई। भलेउ प्रकृतिबस चुकइ भलाई॥'* काल, स्वभाव, कर्म और माया ये सब मनके क्षोभके कारण हैं। पुनः, भावी भी कारण है—*'हरि इच्छा भावी बलवाना।'''होइहि सोइ जो राम रचि राखा।'* [पुनः, *'सो सबु कारन'* का भाव कि स्वभाव त्याग करनेका कुछ कारण अवश्य होता है, बिना कारण किसीकी प्रकृति बदलती नहीं। वह सब कारण विधाता जानें। (वै०)] (ग) *'जान बिधाता'* इति। भाव कि कर्मके अनुसार स्त्री-पुरुषका संयोग विधाता रचते हैं। यथा—*'कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ करम फल दाता॥'* (२। २८१), *'जेहिं बिरंचि रचि सीय सँवारी। तेहि स्यामल बरु रचेउ बिचारी॥'* (२२३। ७), *'तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी। यह संजोग बिधि रचा बिचारी॥'*

(३। १७) इत्यादि। [ऐसा कहकर पराविभूतिका ऐश्वर्य दबाकर लीलाविभूतिका कुतूहल दिखाया। (रा० च० मिश्र)] (घ) *'फरकहिं सुभद अंग'* इति। अर्थात् इनकी प्राप्तिके सूचक शुभ शकुन हो रहे हैं। यथा—*'फरकेउ बाम नयन अरु बाहू। सगुन बिचारि धरी मन धीरा। अब मिलिहहिं कृपाल रघुबीरा॥'* (६। ८९) पुरुषके दक्षिण नेत्र, बाहु आदिका फड़कना शुभ शकुन है, प्रियकी भेंटका सूचक है। यथा—*'फरकहिं मंगल अंग सुहाए।''सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी॥'* (२। ७। ६) [पुनः दाहिने अङ्ग फड़क रहे हैं इससे सूचित होता है कि श्रीसीताजीसे हमारा वाम अङ्ग भूषित होनेवाला है। *'सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी।'* (वै०) (ङ) यहाँतक अपनी दशा कही, आगे मनकी शुचिता कहते हैं। (च) लक्ष्मणजी कुछ बोलते नहीं, अतः कहते हैं, *'सुनु भ्राता।'*

**रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मनु कुपंथ पगु धरै न काऊ॥५॥**
**मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहु पर नारि न हेरी॥६॥**

अर्थ—रघुवंशियोंका (यह) सहज (जन्महीका, बिना किसी साधनके) स्वभाव है कि उनका मन कभी भी बुरे मार्गपर पैर नहीं रखता॥ ५॥ मुझे (तो अपने) मनका अत्यन्त विश्वास है कि जिसने (जाग्रत्-अवस्थाकी कौन कहे) स्वप्नमें भी परस्त्रीको नहीं देखा॥ ६॥

श्रीयुत लमगोड़ाजी—'तुलसीजीकी कार्यशैली कैसी अनुपम है कि जब कभी उन्होंने श्रीरामजीसे कोई भी स्वप्रशंसाके शब्द प्रयुक्त कराये हैं तो उन्हें अधिकतर अभियुक्तके रूपमें रख दिया है कि सफाईमें कुछ स्वप्रशंसा अनिवार्य हो जाय और सगर्विताकी कोई बात भी न मालूम हो। शासन-विधानमें भी अभियुक्तको नेकचलनीके सबूतका मौका दिया जाता है। सत्य है कि आत्मज्ञान, स्वाभिमान तथा इन्द्रियावसान मनुष्यको महान् शक्तिशाली बना देते हैं। इन तीनोंका प्रकटीकरण इसी दोहेसे प्रारम्भ होता है।' (माधुरीसे)

टिप्पणी—१ (क) *'सहज सुभाऊ'* अर्थात् उनका मन स्वतः वशमें रहता है, उनको साधन करके मनको वश करना नहीं पड़ता। जैसे योगी लोग साधनसे मनको कुपन्थसे निवारण करते हैं वैसे इन्हें नहीं करना पड़ता, स्वाभाविक ही इनका मन कुपन्थमें नहीं जाता। (ख) *'रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ'* कहकर जनाया कि बाल्यावस्थासे लेकर मरणपर्यन्त किसी रघुवंशीका मन कुपन्थमें नहीं जाता। [श्रीरघुनाथजीका तात्पर्य *'रघुबंसिन्ह'* से लक्ष्मणद्वारा केवल अपने कुलसे, रघुमहाराजसे लेकर श्रीरामचन्द्रजीतकसे है।—(गौड़जी) **रघुबंसिन्ह**=(संसारमें जहाँतक जितने रघुवंशी हैं] (ग) *'मनु कुपंथ पगु धरै न काऊ'* इति। मन कुमार्गमें पाँव नहीं धरता, इस कथनसे जनाया कि जब वह उस मार्गपर पैर ही नहीं रखता, अर्थात् कुपन्थकी इच्छा ही नहीं करता, तब कुत्सित कर्म कैसे करेगा? [मनके पैर नहीं होते, तथापि वह इधर-उधर दौड़ता-फिरता है। मनका चलायमान होना उसका 'पग धरना' है। यहाँ परायी स्त्रीपर दृष्टि डालना ही कुपन्थ है। (प्र० सं०) पुनः भाव कि तनकी तो बात ही क्या, मन भी कुपन्थपर नहीं चलता।] *'न काऊ'* कभी भी नहीं। अर्थात् बाल, युवा, वृद्धा किसी भी अवस्थामें जब मन ही नहीं चलायमान होता तब तनसे व्यवहार कैसे करेगा? [*'धरै न काऊ'* से सूचित किया कि रघुवंशियोंको कुपन्थ देख पड़ता है। वे जानकर उसपर पैर नहीं रखते हैं। (प्र० सं०)] (घ) इस चरणका दूसरा अर्थ यह भी होता है कि 'रघुवंशी मनसे कभी कुपन्थमें पाँव नहीं धरते।' (ङ) ☞रघुवंशियोंको इन्द्रियजित् कहकर तब आगे अपनेको कहते हैं—*'मोहि अतिसय'*।' इसमें तात्पर्य यह है कि (मैं भी रघुवंशी ही हूँ) रघुवंशके प्रभावसे ही मैं भी इन्द्रियजित् हूँ। ☞देखिये, श्रीरामजी साक्षात् अपनेको नहीं कहते कि हम ऐसे हैं, रघुवंशके प्रभावसे अपनेको ऐसा कहते हैं। जैसे सब रघुवंशी रघुवंशके प्रभावसे इन्द्रियजित् हैं वैसे ही मैं भी हूँ। मर्यादापुरुषोत्तम हैं, कितने सँभालके वचन हैं जिनमें आत्मश्लाघा स्वाभिमान छू भी नहीं जाता, कैसे अभिमानरहित वचन हैं। (लोग अपने मुखसे अपनी प्रशंसा वा अपनी उत्कृष्टता नहीं कहते, क्योंकि यह अयोग्य है, अतएव वंशका प्रभाव कहकर अपनी सफाई दी।)

टिप्पणी—२ *'मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी।'''* इति। (क) *'अतिसय'* का भाव कि सब रघुवंशियोंको अपने-अपने मनकी प्रतीति है, पर मुझको *'अतिसय प्रतीति'* है। (ख) *'सपनेहु'* का भाव कि लोगोंको जाग्रत्‌में ज्ञान रहता है पर सोतेमें ज्ञान नहीं रहता, पर मेरा मन तब भी परनारीको नहीं देखता।* (ग) *'पर नारि न हेरी'* इति। (देखिये माता श्रीकैकेयीसे भरतजीने भाई श्रीरामजीके निर्वासित होनेके कारण पूछते हुए यह भी पूछा था कि क्या उन्होंने किसी परस्त्रीका संसर्ग तो नहीं किया था—**'कच्चिन्न परदारान्वा राजपुत्रोऽभिमन्यते॥'**(वाल्मी० २। ७२। ४५) तब वनवास देनेवाली उस कैकेयीने भी यही उत्तर दिया कि वे तो परस्त्रीको आँखसे भी नहीं देखते—**'न रामः परदारान्स चक्षुर्भ्यामपि पश्यति।'**(२। ७२। ४८) **'अपि'** में यह भाव तो है ही कि संसर्ग तो दूर रहा, वे उनको देखते भी नहीं। पर यह भी भाव ले सकते हैं कि जब आँखसे देखते ही नहीं तब स्वप्नमें भी कब देख सकते हैं। राक्षसोंके नाशकी प्रतिज्ञा करके सुतीक्ष्णजीसे विदा होकर चलनेपर श्रीसीताजीने स्वयं भी कहा है कि धर्मनाशक परस्त्री-संसर्गकी तो आपने कभी अभिलाषा भी नहीं की। यह भाव आपके मनमें ही न कभी पूर्व था और न अब भी है। यथा—**'कुतोऽभिलषणं स्त्रीणां परेषां धर्मनाशनम्। तव नास्ति मनुष्येन्द्र न चाभूत्ते कदाचन॥ ५॥ मनस्यपि तथा राम न चैतद्विद्यते क्वचित्॥'**(वाल्मी० ३। ९) वही मानसमें श्रीरघुनाथजी स्वयं कह रहे हैं।) इससे जनाया कि यदि यह राजकुमारी अन्य किसीको प्राप्त होनेवाली होती तो मेरा मन कभी न चलायमान होता, इससे जाना जाता है कि यह हमको प्राप्त होनेवाली है। यह बात हमारे मनकी वृत्तिसे जानी जाती है, यथा—**'असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः। सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः-करणप्रवृत्तयः॥'** इति। (शकुन्तलानाटके) [ये विचार श्रीदुष्यन्त महाराजके हैं। वे शकुन्तलाको देखकर मनमें विचार कर रहे हैं कि यह निश्चय ही मुझ क्षत्रियके ग्रहणयोग्य है। जब कि मेरा श्रेष्ठ मन इसमें अभिलाषा करने लगा है। क्योंकि संदेहयुक्त पदार्थोंमें सज्जनोंके अन्तःकरणकी प्रवृत्ति ही प्रमाण है (तात्पर्य कि अनुचित विषयमें सज्जनोंका मन जाता ही नहीं, अतः जहाँ उनका मन गया वह पदार्थ उनके योग्य ही समझना चाहिये)।] (घ) रघुवंशियोंके सम्बन्धमें *'पगु धरै न काऊ'* कहा और अपने सम्बन्धमें *'पर नारि न हेरी'* कहा। इसमें तात्पर्य यह है कि पन्थपर पैर नहीं धरते, इस कथनसे पाया जाता है कि रघुवंशियोंको कुपन्थ देख पड़ता है, वे जानकर उसपर पैर नहीं रखते और *'न हेरी'* से पाया गया कि हमारा मन कुपन्थको वा उसकी ओर देखता ही नहीं। *'पर नारि'* ही कुपन्थ है। स्वप्नमें परस्त्रीपर दृष्टि नहीं डाली, इसीसे मनपर *'अतिसय प्रतीति'* है। [(ङ) *'परनारि न हेरी'* कहकर श्रीसीताजीको अपनी ही शक्ति सूचित की। (रा० प्र०)] (च) यहाँ अपने मनकी शुचिता कही। इस तरह यहाँतक दोहेकी सब बातें चरितार्थ हो गयीं।

वि० त्रि०—*'मोहि अतिसय प्रतीति'''* इति। भाव कि मैंने तो अपने मनकी परीक्षा कर ली है। विश्वामित्रके आगमनके पूर्व विवाह-बन्धनमें डालनेके लिये बहुत-सी कन्याएँ मेरे पास भेजी गयीं, पर मेरे मनने उन्हें देखा भी नहीं। (पर इस भावका क्या आधार है यह त्रिपाठीजीने नहीं लिखा) वासना न होनेसे स्वप्न भी नहीं होता। अतः यह बात भी नहीं कि सूक्ष्म वासना रही हो, जिसका मुझे पता न हो।

**जिन्ह कै लहहिं न रिपु रन पीठी। नहिं पावहिं† पर तिय मनु डीठी॥ ७॥**
**मंगन लहहिं न जिन्ह कै नाहीं। ते नर बर थोरे जग माहीं॥ ८॥**

शब्दार्थ—डीठी=दृष्टि। पीठी=पीठ।

अर्थ—शत्रु संग्राममें जिनकी पीठ नहीं पाता अर्थात् जो शत्रुको कभी पीठ नहीं देते, सम्मुख लड़ते हैं, कभी पीछा देकर नहीं भागते। परायी स्त्री जिनका मन और दृष्टि नहीं पाती अर्थात् परस्त्रियाँ जिनके

---

*श्रीरामजी जाग्रत्-स्वप्नादि अवस्थाओंसे परे हैं। इनको स्वप्न कहाँ? पर नरनाट्यमें ऐसा कथन उपयुक्त ही है। 'स्वप्नमें भी'—यह मुहावरा है। अर्थात् कभी भी।

† लावहिं—को० रा०। पावहि—१६६१, भा० दा०, १७०४, रा० प्र०।

मनको या दृष्टिको आकर्षित नहीं कर सकतीं, अपनी ओर नहीं खींच ले जा सकतीं॥ ७॥ और मँगता (माँगनेवाले, याचक वा भिक्षुक) जिनकी 'नहीं' नहीं पाते (अर्थात् जिनके मुखसे याचकके लिये कभी 'नहीं' शब्द नहीं निकलता, 'नहीं मिलेगा' ऐसा कभी जो नहीं कहते, जिनके यहाँसे याचक विमुख नहीं लौटता) ऐसे श्रेष्ठ मनुष्य जगत्में थोड़े ही हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) *'मनु डीठी'।* यहाँ मन और दृष्टि दोनोंको कहा, क्योंकि देखनेसे मन चलायमान होता है, यथा—*'जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मनु छोभा॥'* प्रायः पहले दृष्टि जाती है तब मन भी साथ जाता है। (ख) *'जिन्हकै लहहिं ""माहीं'* इति। केवल रघुवंशियोंका मनको जीतना कहकर अब संसारमें जो और मनुष्य इन्द्रियजित् हैं उनके विषयमें कहते हैं कि जिनकी पीठ शत्रु नहीं पाते, परतिय जिनका मन और दृष्टि नहीं पाती और मंगन 'नहीं' नहीं पाते—संसारमें ऐसे पुरुष थोड़े हैं। इस कथनका तात्पर्य यह है कि रघुवंशी तो सभी ऐसे ही हैं। (ग) *'जग माहीं'* अर्थात् नगरों, ग्रामों, देशोंकी कौन कहे समस्त संसारमें ढूढ़नेपर कुछ ही मिलेंगे। [भाव यह कि सम्भवतः कोई कहे कि किसी एक-दो ग्रामादिमें कदाचित् ऐसे मनुष्य न हों तो क्या, संसारमें तो ऐसे बहुत होंगे, उसपर कहते हैं कि संसारभरमें भी कहीं ही कोई मिलेंगे।] (घ) *'नर बर'* का भाव कि जिसमें ये तीनों गुण हों वही श्रेष्ठ है।

टिप्पणी—२ ☞श्रेष्ठता तीन वर्णोंमें दिखायी, क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये ही तीन वर्ण श्रेष्ठ माने गये हैं। इन्हीं तीनोंके धर्म यहाँ कहे गये हैं। *'नहिं पावहिं परतिय मनु डीठी'* यह ब्राह्मणका धर्म है, ब्राह्मणको इन्द्रियजित् होना चाहिये। *'लहहिं न रिपु रन पीठी'* यह क्षत्रियका धर्म है कि शत्रुको पीठ न दे। 'युद्धे चाप्यपलायनम्'। *'मंगन लहहिं न जिन्हकै नाहीं'* यह वैश्यका धर्म है कि भिक्षुकको विमुख न लौटावे। यथा—*'सोचिय बयसु कृपन धनवानू। जो न अतिथि सिव भगति सुजानू॥'* (२। १७२) यहाँ क्षत्रियधर्म प्रस्तुत है; इसीसे इसीको प्रथम कहा।

टिप्पणी—३ यहाँ क्रमसे एकका साधन दूसरेको और दूसरेका तीसरेको जनाया। अर्थात् जो बातें कहीं उनके साधन भी कहे। *'जिन्ह कै लहहिं न रिपु रन पीठी'* यह कहकर इसका कारण वा साधन बताते हैं कि *'नहिं पावहिं परतिय मनु डीठी।'* अर्थात् जो परस्त्रीमें अपने मन और दृष्टिको नहीं लगाते, वे एकमात्र इसी धर्मके बलसे संग्राममें सदा विजयको प्राप्त होते हैं। पुनः *'नहिं पावहिं परतिय मनु डीठी'* क्योंकि *'मंगन लहहिं न जिन्हकै नाहीं।'* अर्थात् मंगनको जो कभी विमुख नहीं जाने देते, एकमात्र इसी धर्मके प्रभावसे उनका मन कभी परस्त्रीमें नहीं जाने पाता। दोका साधन कहा, पर इस तीसरेका साधन न कहा, कि किस साधनसे यह बात प्राप्त हो जाती है। इससे जनाया कि इसका साधन यही है। 'मंगन 'नहीं' नहीं पाते' इसी धर्मसे कोई विमुख नहीं जाता। श्रुतियोंसे पाया जाता है कि जो कोई किसीको 'नहीं' नहीं करे तो उसके यहाँ सब पदार्थ पूर्ण रहते हैं। इसीसे इसका दूसरा साधन नहीं लिखा। ☞मिलान कीजिये—'**रघूनां हृदयेनैव प्रापुरन्याः किल स्त्रियः। पृष्ठं न लेभिरे युद्धे रिपवः शस्त्रपाणयः॥**' इति। (**सत्योपाख्याने**) ☞तात्पर्य कि रघुवंशियोंमें ये तीनों गुण हैं। [*'जिन्हकै लहहिं न रिपु रन पीठी'* में वीरता गुण, *'नहिं पावहिं परतिय मनु डीठी'* में धीरता गुण और *'मंगन लहहिं न जिन्हकै नाहीं'* में उदारता गुण कहकर तब *'ते नर बर थोरे""'* कहनेका भाव कि इन गुणोंसे युक्त (धीर, वीर, उदार) पुरुष संसारमें दुर्लभ हैं। (वै०)] *'मंगन लहहिं न जिन्हकै नाहीं'* से पात्रापात्रविचारके बिना मंगतामात्रको दान देनेवाले जनाये।

नोट—१ किसीका मत है कि जिसमें केवल प्रथम दो गुण, शत्रुको पीठ न देना और परस्त्रीपर दृष्टि न डालना हो, संसारमें उसको पराजय करनेवाला कोई पैदा ही नहीं हुआ। और गोस्वामीजीने *'नरबर'* श्रेष्ठ मनुष्यके तीन लक्षण बताये हैं, जिनमें इन दोके अतिरिक्त तीसरा 'याचकको विमुख न लौटाना' है। उत्तम वा श्रेष्ठ कहलानेका अधिकारी तभी होगा जब इन तीनोंसे युक्त हो, ये तीनों लक्षण श्रीलक्ष्मणजीमें भी पाये जाते हैं। (प्र० सं०)

नोट—२ इन तीनों गुणों वा लक्षणोंके वर्णनमें *'नहिं पावहिं परतिय मनु डीठी'* यह लक्षण अन्य दोके

बीचमें रखकर तीनोंमेंसे इस गुणको प्रधान सूचित किया, यही यहाँका मुख्य प्रसंग है। यह गुण जिसमें होगा वह रणमें पीठ न देगा और कभी कोई याचक उसके यहाँसे विमुख न लौटेगा। इन्हींका खुलासा श्रीसुग्रीवजीके इन वचनोंमें पाया जाता है—*'नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा॥ लोभपास जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया॥ यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई॥'* (४। २१) (प्र० सं०)। जो शत्रुको पीठ न दिखावेंगे, मर भले ही जायँ, वे युद्धवीर हैं, उन्हींकी गति परिव्राट् योगयुक्तकी-सी होती है, वे सूर्यमण्डलका भेदन करते हैं। यथा—**'द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ। परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखे हतः॥'** *'नहिं पावहिं परतिय मनु डीठी'* वे धर्मवीर हैं और *'मंगन लहहिं न जिन्ह कै नाहीं'* वे दानवीर हैं। *'ते नरवर थोरे जग माहीं'* में भाव यह है कि उन थोड़ोंमेंसे मैं भी हूँ जिन्होंने भय, काम और लोभपर जय पायी है। (वि० त्रि०)

नोट—३ इसी प्रसङ्गपर जयपुरके रघुवंशियोंका कवित्त है—*'राजा जयसिंह दो बातें तो न दीन्हीं कहूँ, बैरिनको पीठ और न डीठ परनारी को।'* सो गोस्वामीजीने वे दोनों बातें तो लिखीं ही और एक बात अपनी तरफसे लिखी कि *'मंगन लहहिं न जिनकै नाहीं'* क्योंकि सबसे ऊपर चलते हैं। इतना ही नहीं वहाँ तो केवल दो गुणोंका वर्णन है और यहाँ अनेक आशय भरे हैं।'—(बाबा रामदासजी)

नोट—४ *'सो सब कारन जान बिधाता'* से *'ते नर बर थोरे जग माहीं'* तक पर पाँड़ेजी लिखते हैं कि 'सब कारणोंको विधाता जानें। वे सब कारण ये हैं कि रघुवंशियोंका सहज स्वभाव है कि कुपन्थमें पग नहीं धरते फिर क्या कारण कि हमारा मन चञ्चल हो गया? हमें मनकी प्रतीति है। और, अब ऐसा हुआ कि *'सिय मुख ससि भए नयन चकोरा'* यह क्यों? यह अपनी दसा कहकर रघुनाथजी अपने भाईकी प्रशंसा रीति-अनुसार इस तरह करते हैं कि जिनकी पीठको शत्रु रणमें नहीं पाते, इत्यादि वे श्रेष्ठ नर जगत्में थोड़े हैं। ये तीनों बातें लक्ष्मणजीमें विद्यमान हैं; क्योंकि कामशत्रुने इनकी पीठको नहीं पाया। जानकीजी सखियोंसमेत आयीं, सो उन्होंने इनकी दृष्टिको नहीं पाया और रघुनाथजी एवं विश्वामित्रजीकी सेवामें ऐसे तत्पर हैं कि जिसने जो सेवा माँगी वह इन्होंने पूरी की।'

नोट—५ यहाँ मन, कर्म और वचन तीनों दिखाये। रणमें पीठ न देना यह तन वा कर्म है, *'परतिय मन डीठी'* में मन और 'नाहीं न करना' यह वचन।

प० प० प्र०—यहाँ साहित्य-समालोचक शङ्का करते हैं कि 'इस परमरम्य शृङ्गाररसमें सामान्य नीति, सिद्धान्त, युद्धकी परिभाषा और याचकोंका दैन्य किस कामका। इससे तो रसहानि होती है।' समाधान—२३० (१) की टीकामें लिखा गया है कि श्रीरामजी रघुवीर हैं, अतः स्वभावानुकूल मदनसे युद्धकी ही भाषामें यह प्रसङ्ग शुरू हुआ है। जब कामने रण-दुन्दुभी बजाकर युद्धका आह्वान दे दिया तब रघुवंशवीरोत्तम होनेसे कुल-स्वभावानुसार उस आह्वानको स्वीकार किया गया। उसको पीठ दिखाना तो कायरोंका लक्षण है और ऐसे क्षत्रियोंको रघुवंशी वीर कुलकलंक समझते हैं। यह युद्ध धनुर्भङ्ग होनेतक चलनेवाला है। आश्चर्यकी बात यह है कि धनुमखशाला देखनेके समय जब प्रभु मुनिवरके साथ चारों तरफ घूमते हैं तब भी उनकी पीठ किसीने भी नहीं देखी—*'निज निज रुख रामहि सबु देखा। कोउ न जान कछु मरमु बिसेषा॥'* (२४४। ७) अतः *'जिन्ह कै लहहिं न रिपु रन पीठी'* यह वचन इस काम-युद्धमें भी अन्ततक सत्य कर दिखाया है।

*'नहिं पावहिं परतिय मनु'* इति। रघुवीर रघुसिंहका मन सीताजीके रूपपर मुग्ध तो हुआ है, पर सीताजीको उनका मन जयमाल पहनानेके समयतक नहीं मिला है। इसीसे सीताजीका मन बारंबार सशंक और व्याकुल होता है। *'बीर बिहीन मही मैं जानी'* ऐसे अपमानकारक वचन सुनकर भी वे धनुर्भङ्ग करनेको नहीं उठ खड़े हुए। कोई कामी स्त्रीजित् वीर ऐसा कर सकता है? कामी राजाओंका चरित्र तो आपने प्रत्यक्ष देखा ही है। *'नहिं पावहिं परतिय डीठी'* इति। रघुवीरकी दृष्टिको भी सीताजीकी दृष्टिने विवाह-समयतक नहीं पाया है—३२३ छन्द २ देखिये। कामदेव ही सीताजीके रूपमें अपनी पीठ दिखाकर इस रणभूमिसे जाता

हैं; पर मृग-तरु-बिहंगके मिष बार-बार पीठकी तरफ ताकता है तो भी परस्परावलोकन नहीं हुआ, इसका कारण यही है कि सीताजीने रघुवीरके न तो मनको पाया और न दृष्टिहीको। रघुवीरके अचंचल नेत्रोंने एक बार ही उस रूपको देखा और अपने चित्तकी भीतिपर प्रेम-मसिसे उसे चित्रित कर लिया। सीताजीसे यह करते न बन पड़ा। वे कभी रामरूपको हृदयमें लाती हैं तो कभी रघुवीरको हृदयमें बिठाती हैं। धनुर्यज्ञमण्डपमें भी उन्होंने रामजीकी दृष्टिको नहीं पाया।

*'मंगन लहहिं न जिन्हकै नाहीं'* इति। यह वचन भी धनुर्भङ्गप्रकरणमें चरितार्थ हुआ है। *'तन मन बचन मोर पनु साचा। रघुपतिपदसरोज चितु राचा॥ तौ भगवानु सकल उर बासी। करिहि मोहि रघुबर कै दासी॥ जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलै न कछु संदेहू॥ प्रभु तन चितै प्रेम तन ठाना। कृपानिधान राम सब जाना॥'* (२५९। ५-७)—जब सीताजी इस प्रकार दीन मंगन बनीं तब *'भगवान सकल उर बासी'* रामजीने 'नाहीं' नहीं कहा, किंतु *'सियहि बिलोकि तकेउ धनु'* और शीघ्रतासे उसे उठाकर तोड़ डाला। श्रीसीताजीरूपी कामदेवने ही जयमाल पहनाया और विश्वविजयका यश भी इस कामयुद्धमें रघुवीरको ही मिला। इसीसे तो भृगुपतिजी कहते हैं—*'अहमिति मनहुँ जीति जग ठाढ़ा'*—अब कहिये, इन वचनोंसे रसहानि हुई या शृङ्गारके साथ वीररसका भी परिपोष हुआ? ये वचन निकम्मे हैं या चरितार्थ हुए हैं? यह भी कहिये, इस युद्धमें अब किसकी विजय हुई?

**दो०—करत बतकही अनुज सन मन सियरूप लोभान।**
**मुखसरोज मकरंद छबि करै मधुप इव पान॥२३१॥**

अर्थ—छोटे भाईसे बतकही (वार्ता) कर रहे हैं। मन श्रीसीताजीके रूपमें लुभाया हुआ है और मुखकमलके छबिरूपी मकरन्दरसको भौंरेकी तरह पी रहा है॥ २३१॥

'करत बतकही'

☞ कविकी कला देखिये कि ऊपरसे बातें बेजोड़-सी जान पड़ती हैं और इसीसे 'बतकही' शब्द लिखा है कि वार्ता बहुत शृङ्खलाबद्ध नहीं है जैसा कि शृङ्गाररससे प्रभावित होनेमें नाटकीयकलाके सत्य (Dramatic truth) के कारण ठीक ही है, लेकिन विद्वानोंकी ऊपर दी हुई व्याख्याओंसे यह भी विदित है कि वह बड़ी मार्मिक है। यह नाटकीयकलामें गुप्त महाकाव्यकला तुलसीदासका ही हिस्सा है। ठीक है महापुरुषोंपर भावोंका प्रभाव तरंगोंकी भाँति ऊपर ही होता है, आन्तरिक गम्भीरता वैसी ही बनी रहती है। (लमगोड़ाजी)

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'जहाँ समीचीन वार्ता होती है वहाँ ग्रन्थकार 'बतकही' शब्दका प्रयोग करते हैं। यथा *'हंसहि बक दादुर चातकही। हँसहिं मलिन खल बिमल बतकही'* *'करत बतकही अनुज सन…'* *'एहि बिधि होत बतकही आए बानरजूथ'* *'तव बतकही गूढ़ मृगलोचनि। समुझत सुखद सुनत भयमोचनि'* *'काज हमार तासु हित होई। रिपुसन करेउ बतकही सोई'* *'दसकंधर-मारीच-बतकही। जेहि बिधि भई सो सब तेहि कही'* और *'निज निज गृह गए आयसु पाई। बरनत प्रभु बतकही सुहाई॥'*—विशेष दोहा ९ (२) भाग १ देखिये।

पं० रामचरण मिश्रजी लिखते हैं कि 'यह ओछा और हलका पद है। 'वार्ता' ऐसा पद क्यों न दिया? इसपर सिद्धान्त यह है कि कहने-सुननेमें भले ही ओछा लगे परंच गोस्वामीजीने इस पदको बड़ी विलक्षणतासे गौरव दिया है। (लक्ष्य) *'हँसहिं मलिन खल बिमल बतकही'* में *'बतकही'* का विशेषण *'बिमल'* दिया है और यहाँ रामजीकी बतकही निर्मल है—यथा—*'मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहु परनारि न हेरी॥'* इत्यादि। इस ग्रन्थमें जहाँ छलहीन शुद्ध चित्तकी वार्ता है वहाँ *'बतकही'* का प्रयोग हुआ है।'

नोट—१ *'अनुज सन'* इति। (क) *'अनुज'* से संकेत है कि वे तनिक पीछे थे। उनसे तनिक मुड़कर बात करनेमें श्रीसीताजीके देखनेका अवसर मिल जाना शृङ्गार और नाटकीयकलाकी जान है। (ख) 'म,

प, ब' इत्यादि ओष्ठोंसे उच्चारण होनेवाले अक्षरोंका प्रयोग मानो 'मन' के चुम्बनका शब्द-गुण-सम्बन्धी चित्र ही खींच देता है। देखिये इस प्रसङ्गमें भौंरोंको '*मधुप*' कहना कितना उचित है। (ग) उस 'फूल' के साक्षात्कारके उपरान्त भावकी सुन्दरतामें यह 'मन' का छबिरूपी मकरन्द-पान कितना सरस और स्वाभाविक है। यह ही तो उस फूलके चुन लेनेका उद्योग करायेगा: लेकिन अभी तो खयाली संयोग और वियोगका आनन्द दोनों ओर देखिये और कविकी सूक्ष्म कलाकी दाद दीजिये।' (लमगोड़ाजी)

टिप्पणी—१(क) '*बोले सुचि मन अनुज सन*' यह उपक्रम है और '*करत बतकही अनुज सन*' यह उपसंहार है। इतना विचार करनेपर भी क्षोभ न हटा। मन-मधुप छबिमकरन्द-पान कर रहा है और गुनगुनाता जाता है। (वि० त्रि०) (ख) '*मन सियरूप लोभान*' कहकर आगे बताते हैं कि किस अङ्गमें लुभाया है। '*मुख सरोज*...' अर्थात् मुखकी छबिमें लुभाया है। यही पूर्व भी कह आये हैं —'*सियमुख ससि भये नयन चकोरा।*' चकोर चन्द्रमाका लोभी होता है, यथा—'*भये मगन देखत मुख सोभा॥*' (२०७) श्रीरामचन्द्रजीका मन श्रीसीताजीके मुखचन्द्रपर लुभाया हुआ है। यह पूर्व कहा था और यहाँ कहते हैं कि 'सियमुखसरोज' में मधुपकी तरह लुभाया है। दो उपमाएँ (चकोर और मधुपकी) देनेका भाव यह है कि चकोरकी उपमा रात्रिकी है और मधुपकी उपमा दिनकी है। इस प्रकार कविने दो जगह उपमाएँ देकर सूचित किया कि अब श्रीसीताजीके रूपमें दिन-रात लुभाया रहेगा। (मुख-शशिके लिये नयन चकोर हुए। और मुखसरोजकी छबिके लिये मन मधुकर हुआ। आँख और मन दोनों बँध गये। (वि० त्रि०) (ग) [पाँड़ेजी लिखते हैं कि 'भौंरेका स्वभाव है कि मकरन्द-पान करते समय शब्द नहीं करता, फिर थोड़ी देर बाद उसीके आसपास गूँजता हुआ उड़ता फिरता है, ऐसे ही श्रीरघुनाथजी एक बार बतकही लक्ष्मणजीसे करते हैं और एक बार सीताजीके मुखकी छबिको निहारते हैं। नोट—लक्ष्मणजीसे बतकही करना गुंजार है, मुखचन्द्रपर दृष्टि जमाना मौन होकर मकरन्दरसका पान करना है।'] (घ) ☞ श्रीसीताजीके रूपमें श्रीरामजी मन, कर्म और वचन तीनोंसे आसक्त हुए, यह यहाँ दिखाया है।'*मन सियरूप लोभान*' (मन है), '*करत मधुप इव पान*' (कर्म है), '*करत बतकही*...' (यह वचन है)। (ङ) [वीरकविजी लिखते हैं कि 'पहले रामचन्द्रजीके मनमें वितर्क हुआ कि रघुवंशियोंका परायी स्त्रीपर आसक्त होना अकार्य है। इस भावको शुभ अङ्गके फड़कनेसे मति संचारीभावने दूर कर दिया। तब निःशंक मुखछबि देखने लगे। प्रथमको दूसरे भावने और दूसरेको तीसरेने क्रमशः दबा दिया। यह 'भाव-सबलता' है।'

नोट—२ '*कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।*' (२३०। १) से लेकर यहाँतक यह भी दिखाया है कि श्रीजानकीजीके स्वरूपमें श्रीरामचन्द्रजीको पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंसे सुख प्राप्त हुआ। '*कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि॥*' यह श्रवणेन्द्रियका विषय है। '*अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा। सिय मुख ससि भये नयन चकोरा।*' यह नेत्रेन्द्रियका विषय है। '*तात जनकतनया यह सोई। धनुषजग्य जेहि कारन होई॥*' यह जिह्वा इन्द्रियका विषय है। श्रीजानकीजीकी वार्ता करके सुख पा रहे हैं। और, '*मुखसरोज मकरंद छबि करत मधुप इव पान।*'—इससे नासिका और त्वचा दोनों इन्द्रियोंका विषय कहा, क्योंकि मधुप कमलमें बैठकर मकरंद पान करता है—इससे स्पर्श-भावका ग्रहण होगा। साक्षात् स्पर्श नहीं है। उपमाद्वारा स्पर्शको कह दिया गया। कमलमें सुगंध है। मधुप गन्ध ग्रहण करता है। यह नासिका इन्द्रियका विषय है। श्रीसीताजीकी शोभाका वर्णन हृदयमें कर रहे थे, इसीसे उन्हींकी वार्ता करने लगे। (पं० रामकुमारजी)

श्रीलमगोड़ाजी—'श्रीलक्ष्मणजीसे श्रीरामचन्द्रजीने '*बतकही*' की, परंतु वे एक शब्द न बोले। यह क्यों? लक्ष्मणजी उनके अनुज हैं और उन्हें अपने भाईपर पूर्ण विश्वास है तथा उनके हृदयमें भ्राताके प्रति प्रेम, सहानुभूति एवं सम्मानके भाव विद्यमान हैं और इसी कारण उनकी जिह्वासे एक शब्द भी आक्षेपका नहीं निकला। लक्ष्मणजी छिद्रान्वेषी उपदेशक बनकर साथ नहीं हैं, प्रत्युत सहृदय भ्राता बनकर। लक्ष्मणजीकी सहृदयता और सहानुभूतिके उदाहरण ग्रन्थमें अनेक ठौर हैं।' (माधुरीसे)

नोट—३ लक्ष्मणजीको अदबका इतना खयाल है कि फुलवारीकी लीलामें आदिसे अन्ततक वे बोले ही

नहीं। श्रीकिशोरीजीके चरणोंको छोड़कर उन्होंने जीवनपर्यन्त सिर उठाकर उनकी ओर तो देखा ही नहीं। यहाँकी तो बात ही न्यारी है। यहाँ तो प्रभुकी बातें सुनतेभर हैं। उनकी दृष्टि तो प्रभुके बराबर भी नहीं पड़ सकती। लक्ष्मणजी-सरीखे मुँहलगे छोटे भाईके शीलका गोस्वामीजीने अपूर्व चमत्कारिक दृश्य दिखाया है।

बैजनाथजी—(क) यहाँ प्रभुको धीरता, वीरता और उदारता तीनोंसे 'रीते' (खाली, रहित) दिखाते हैं। वचनोंद्वारा श्रीकिशोरीजीकी प्रशंसा करते हैं—इससे अपनी अधीरता प्रकट की। *'मन सियरूप लोभान'*—लोभी होनेसे उदारतासे 'रीते' दिखाया। *'मुख सरोज''पान'* से प्रभुको याचक और किशोरीजीको दानी ठहराया। इस तरह कि श्रीसीताजीके मुखको कमल कहा है और प्रभुके मनको लोभी भ्रमर कहा है जो मकरंद पान करता है, इसलिये वह याचक हुआ और कमल-रस देनेवाला दानी निश्चित हुआ। (ख) पुनः, *'सियमुख ससि भये नयन चकोरा'* इस लक्षणसे किशोरीजी सावधान ठहरीं और *'नयन चकोर'* से प्रभु वीरतासे रहित हुए। किशोरीजीका मन सावधान है और प्रभुका मन सियरूपपर लुब्ध है, इससे धीरतारहित दिखाया।—(ये शृङ्गारियोंके भाव हैं)

मा० त० वि०—यहाँ जो *'करत बतकही'''* इत्यादि कहा है वह '**श्रोतव्यं मन्तव्यं निदिध्यासितव्यं साक्षात्कारकर्तव्यमिति**' इस श्रुतिके अनुसार कहा है अर्थात् जबतक साक्षात्कार न हो तबतक ये सब कर्म करने चाहिये, वैसे ही सियछबिके साक्षात्कारतक बतकही करते रहे और मन लुभाया रहा। अथवा '**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**' के अनुसार श्रीकिशोरीजीकी प्रेमासक्तता देख आपने भी वैसा ही भाव जनाया। अथवा, अभी केवल मानसी स्वयंवर उचित है, इससे इस दोहेमें वाचिक-मानसिक और कायिक आसक्ति दिखायी।

**चितवति चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गये नृपकिसोर मन चिंता*॥ १॥**
**जहँ बिलोकि मृगसावक नैनी। जनु तहँ बरिस कमलसित श्रेनी॥ २॥**

शब्दार्थ—**चकित**=चौकन्नी, हका-बका-सी। **मृगसावक** (मृग-शावक)=हिरणका बच्चा। **बरिस**=(की) वृष्टि हुई, वर्षा हो रही है। **कमलसित**=श्वेत कमल। **सित**=श्वेत।

अर्थ—श्रीसीताजी चारों दिशाओंमें चौकन्नी-सी देखती हैं। मनमें चिन्ता है कि राजकिशोर कहाँ चले गये॥ १॥ बाल-मृगनयनी श्रीसीताजी जहाँ देखती हैं वहाँ (ऐसा जान पड़ता है) मानो श्वेत कमलोंकी पंक्ति बरस जाती है॥ २॥

श्रीलमगोड़ाजी—(क) *'चितवत चकित चहूँ दिसि'* इति। यहाँ 'च' का अनुप्रास 'चकित' और 'चिंतित' अवस्थामें कितना सुन्दर है?। (ख) प्रेमकी आँखमिचौनीमें यह वियोग बड़ा ही भावपूर्ण है। इसी प्रकार कुशल कविने बड़ी ही कुशलतासे प्रेमको पकाया है, नहीं तो इतनी शीघ्र एक ही दिनमें *'जा पर जा कर सत्य सनेहू।'* को अवस्थातक पहुँचना कठिन था, जब यह निश्चय हो गया कि भगवान् मुझे 'रघुपतिकी दासी' अवश्य बनावेंगे।

टिप्पणी—१ (क) श्रीसीताजीका प्रसंग *'चकित बिलोकति सकल दिसि''।'* (२२९) अर्थात् *'चकित'* पदसे छोड़ा था, अब वहींके *'चकित'* शब्दसे पुनः प्रसंगको उठाते हैं।—*'चितवति चकित'।* (कवि एक है, इसलिये दोनों ओरकी घटनाएँ जो साथ-साथ हो रही हैं उनको वह एक साथ नहीं लिख सकता। अतः एक ओरका वृत्तान्त थोड़ा कहकर फिर दूसरी ओरका वृत्तान्त कहने लगता है। श्रीसीताजी चकित होकर देख रही हैं। कविको अवसर मिला कि इस बीचमें श्रीरामजीकी ओरका वृत्तान्त कहें। तब श्रीरामजीकी ओरका वृत्तान्त कहने लगे। जब यहाँतक कथा पहुँची कि श्रीसीताजीके मुखसरोजके छबि-मकरन्दको श्रीरामजीका मन-मधुप पान करने लगा, तब कविको श्रीसीताजीकी ओरके वृत्तान्त कहनेका अवसर मिला। अब जहाँसे छोड़ा था वहींसे कथा प्रारम्भ करते हैं। वि० त्रि०) (ख) *'चहूँ दिसि'* इति। पूर्व जो *'सकल*

* चिंता—१६६१, १७०४, १७२१, १७६२, छ०, भा० दा०। चीता—पं०, को० रा० वै, गौड़जी।

*दिसि'* कहा था उसका अर्थ यहाँ स्पष्ट किया कि *'सकल दिसि'—'चहुँ दिसि।'* परंतु श्रीलमगोड़ाजीके मतानुसार पूर्वका *'सकल दिसि'* साभिप्राय है, भावगर्भित है और यहाँ अब सकल दिशाओंकी आवश्यकता ही नहीं रह गयी है—विशेष आगे तथा दोहा २२९ में उनकी टिप्पणी देखिये। (ग) *'कहँ गये नृपकिसोर'* इति। *'नृपकिसोर'* शब्दसे उनकी स्वाधीनता दो प्रकारसे जनायी—एक तो 'नृप', दूसरे 'किशोरावस्था', जिसमें मन चञ्चल हुआ करता है। (पाँड़ेजी) (घ) *'मन चिंता'* इति। 'सीताजी' और 'चिंता' में अनुप्रास एक अक्षर 'ता' का है। ऐसा ही प्रयोग ग्रन्थकारने अन्यत्र भी किया है। यथा—*'मुख मलीन उपजी मन चिंता। त्रिजटा सन बोली तब सीता॥'* (६। ९८। २) (घ) मनमें चिन्ता करती हैं कि कहाँ गये और चारों दिशाओंमें देखती हैं। तात्पर्य कि संकोचके कारण सखियोंसे पूछ नहीं सकतीं। अथवा, इतनी देरमें बागके बाहर तो जा नहीं सकते, तब गये कहाँ ?

पाठान्तर—प्राचीनतम १६६१ वाली पोथीमें यह पाठ है। श्रीपाँड़ेजीकी छपी पुस्तकमें *'चीता'* पाठ है (सम्भवतः बैजनाथजीने उसीमेंसे यह पाठ लिया है) टीकामें वे लिखते हैं कि *'चीता'* अनुप्रास-हेतु कहा गया, शब्द चिंता है। चिंता तीन बातोंकी है—प्रथम यह कि चले तो नहीं गये, दूसरे यह कि सखियाँ अन्तःकरणकी प्रीति पहचान न ले, तीसरे राजा जनकके प्रणकी।' बैजनाथजी लिखते हैं कि यह 'विप्रलम्भ' की चिन्ता दशा है।

श्रीरामदासगौड़जी *'चीता'* पाठ पसंद करते हैं। उनके मतानुसार—'मन चीता=मनने जिसे चुन लिया। *'मन चीता'* में श्रीकिशोरीजीके पहलेसे वरण कर लेनेका निर्देश है। पाठक २२९ वें दोहेके ऊपरकी चौपाईसे इस प्रकरणको यों मिलाकर पढ़ें।—*'चली अग्र करि प्रिय सखि सोई। प्रीति पुरातन लखै न कोई॥ सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत। चकित बिलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत॥* २२९ ॥ *चितवति चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गये नृपकिसोर मन चीता॥'* इत्यादि। *'प्रीति पुरातन'* है। *'आदिसक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यहु माया॥'* नारदकी बात भी याद आयी। मनने चुन लिया, वरण कर लिया। इस बातका निर्देश *'मन चीता'* विशेषणसे हो जाता है। चिन्ताका अभी कोई काम नहीं। चिन्ताका काम तब आयेगा जब *'नखसिख निरखि राम कै सोभा॥ सुमिरि पितापन मन अति छोभा॥'* तब तो *'जानि कठिन सिवचाप बिसूरति। चली राखि उर स्यामल मूरति।'*

टिप्पणी—२ (क) *'जहँ बिलोकि'* का भाव कि प्रथम चारों ओर देखना कहा था, इससे अब *'जहँ'* कहकर जनाया कि श्वेत कमलोंकी वृष्टि केवल उसी तरफ होती है जिधर देखती हैं, जब जिधर और जहाँ देखती हैं उसी तरफ ऐसा जान पड़ता है, अन्य तीन तरफ नहीं। (ख) पूर्व जो २२९ वें दोहेमें कहा था कि *'चकित बिलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत'* अब उसीका मिलान करते हैं। *'जनु सिसु मृगी सभीत'* के सम्बन्धसे यहाँ *'मृगसावकनैनी'* कहा। (ग) [हिरनके बच्चेकी आँखकी उपमा देकर 'नयी-नयी जलभरी आखें' सूचित कीं। (पाँड़ेजी)]

## 'जनु तहँ बरिस कमलसित श्रेनी' इति।

पं० रामकुमारजी—*'श्वेत कमल'* इति। सत्त्व, रज, तम तीन गुण हैं। रसनिधिके *'अमी हलाहल मद भरे श्वेत श्याम रतनार। जिअत मरत झुकि झुकि परत जेहि चितवत एक बार।'* इस दोहेमें चितवन रजोगुणी, तमोगुणी और सतोगुणी तीनों प्रकारकी दिखायी गयी है। यहाँ केवल सतोगुणी दृष्टिसे श्रीसीताजी श्रीरामजीको देख रही हैं, इसीसे यहाँ श्वेत कमलकी उपमा दी गयी। दृष्टिकी स्वच्छता इससे दरसायी। [सतोगुण अमृतसम जिलानेवालेका रंग श्वेत है। रजोगुणका रङ्ग लाल है और तमोगुणका श्याम है। गोस्वामी तुलसीदासजी श्रीजानकीजीकी चितवनको अमियमय श्वेत शुद्ध सात्त्विक जनाते हैं। इसीसे उन्होंने उनसे श्वेत कमलोंकी वृष्टिकी उत्प्रेक्षा की।] पुनः भाव कि कमलकी वृष्टि कहकर कामके बाणकी वृष्टि जनायी। यथा—**'नियतिं तु स्मरनाराचाः कान्तादृक्पातकैतवात्।'**

पाँड़ेजी—'जिधर श्रीसीताजी जाती हैं उधर ही सब सखियोंका समूह देखने लगता है। यहाँ यह शंका होती है कि 'आँखोंकी सुन्दरता श्यामता वा अरुणताकी कही जाती है। यहाँ श्वेत कहनेका क्या प्रयोजन?' समाधान यह है कि राजपुत्री सखियोंसमेत शृङ्गार किये हुए नहीं हैं (अभी स्नान करके पूजामें लगी थीं) इसीसे आँखें श्वेत हैं, दूसरे यह कि श्वेत लोचनमें प्रीति अर्थात् मित्रताका भाव है, श्याममें विष अर्थात् शत्रुताका भाव है और लालमें मद अर्थात् मध्यस्थका भाव है। आँखोंमें सब वस्तुएँ इन्हीं तीन भावोंसे देखी जाती हैं। यही बात विहारीने अपने प्रसिद्ध दोहे—*'अमी हलाहल मद भरे'''* में कही है। यहाँ प्रयोजन मित्रताके भावका है, इसीसे श्वेत नेत्र कहे।'

पं० श्रीरामदास गौड़जी—दो नेत्रोंसे कमलश्रेणीकी वर्षा कैसे सम्भव? इस तरह कि चकित चितवन है, इससे ताबड़तोड़ झड़ाझड़ वृष्टि हो रही है। सीताजीकी चितवन पुनीत पवित्र अमृत सत्कीर्तिमय विमल है, इसीलिये श्वेत कमलसे उसकी उपमा दी गयी। बरसना क्यों कहा? इसलिये कि हमारे विज्ञानमें ज्योति भी परमाणुमय है, अनात्म है, पदार्थ हैं, Material है। Einstein ऐन्स्टैनकी आधुनिक Quantum theory of light ज्योति-परमाणुवाद भी इसी हिंदूविचारका पोषक है। कविकी कल्पनामें परमाप्रकृति सीताजीके स्थूल शरीर आँखोंके सरोवरसे निकले विमल अवलोकनरूपी श्वेत कमल प्रकृतिके तमोगुणसे निर्लिप्त हैं। चितवनकी ज्योतिके परमाणु बरस जाते हैं, मानो कमलोंकी एक सीधी पंक्ति बरस जाती है। कविकी कल्पना बड़ी चमत्कारिक और अपूर्व है।*

लमगोड़ाजी—*'जहँ बिलोक'''श्रेनी'* बड़ी ही सुन्दर अर्धाली है। शीघ्रताके साथ आँखें चारों ओर घूम रही हैं, इससे श्वेत कमलोंकी मानो झड़ी लग जाती है। इससे भी यह भाव सुन्दर है कि *'भए बिलोचन चारु अचंचल'* संकेत है कि आँखें मिल गयी थीं। श्रीरामजीकी आँखें ही श्रीसीताजीकी आँखोंमें बसी थीं, इसलिये जिधर सीताजी देखती थीं, उधर यह जान पड़ता था कि मानो श्वेत कमलोंकी वर्षा हो रही है। श्वेत अमृतका रङ्ग है और शृङ्गारका प्रारम्भ है। अभी ठीक भी यही है। कविकी सूक्ष्मदर्शिता अभी स्पष्ट हो जायगी जब आगे ही चलकर आप देखेंगे कि श्रीरामके नखशिख-वर्णनमें *'लोचन रतनारे'* आया है, मानो इतनी देर शृङ्गार 'मधु' कोटितक पहुँच गया और श्वेत आँखोंमें प्रेमने लालिमा उत्पन्न कर दी। (मद)—इन सुन्दर कल्पनाओंके लिये *'जनु'* के साथ उत्प्रेक्षा कितनी उचित है। रसकिन Rusxin ने ठीक कहा है कि सुन्दर वस्तु सर्वदा सुखमय है। वियोगमें आँखोंकी याद ही अपना काम कर रही है। यहाँ तो अभी क्षणिक वियोग और प्रारम्भिक अवस्था ही प्रेमकी है। लेकिन यही दृढ़ होकर अशोकवाटिकामें भी आधार बनेगी।—*'ध्यान तुम्हार कपाट'*।

अब रामदर्शन हो जानेपर केवल चारों तरफ देखना रह गया, क्योंकि नृपकिशोररूपमें देखा है। आकाश और पातालवाले विचारकी अब जरूरत नहीं।

नोट—और भी भाव ये कहे जाते हैं—

रा० प्र०—(१) वहाँ-वहाँ भ्रमरोंसे युक्त श्वेत कमलोंकी मानो पंक्ति पड़ती है। नेत्रकी पुतलीको व्यंग्यसे भ्रमर कहा। (२) श्वेत कमल कहनेका भाव यह है कि श्वेत कटाक्ष सुखदायक होता है और श्याम कटाक्ष दुःखदायक है। भाव यह कि चाहसे देखना सुखदायक है और अचाहसे देखना दुःखदायक। इसीसे 'जानकीमंगल' में लिखा है—*'जेहि दिसि राजकुमारि सुभाय निहारै। नीलकमल सर श्रेनि मयन जनु डारै॥'* (५१) (तुलसी-रचनावलीमें पाठान्तर है पर अर्थ एक ही है।) यहाँ स्वाभाविक ही निहारती हैं। और

* १ प्राचीन पाठ 'कमल सित श्रेनी' ही है। किसीने 'कमल श्रित श्रेनी' पाठ दिया है। पाँड़ेजी लिखते हैं कि जहाँ 'श्रित' पाठ है वहाँ भावार्थ यह होगा कि 'जब राजकिशोर न दिखायी दिये तब करुणारस हो आया। इससे पलमात्र भी उनको 'कमलाश्रित' ब्रह्माजीके वर्षोंकी श्रेणीके समान बीतने लगा। ऐसी आतुरता हुई कि 'निमिष बिहात कलप सम तेही'।'
२—वीरकविजी लिखते हैं कि 'कमल' आसमानसे बरसते नहीं। यह कविकी कल्पनामात्र है। अतः यहाँ 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

वहाँ (जानकीमंगल-प्रसङ्गमें) राजाओंकी ओर अचाह दृष्टिसे देखती थीं। (अथवा यहाँ अभी स्नान किया है इससे शृङ्गार नहीं है। स्वयंवरके समय यज्ञशालामें शृङ्गार किये हुए हैं। आँखोंमें सुरमा लगाना भी शृङ्गार है, इससे उस समय नीलकमलकी उपमा दी है।)

बैजनाथजी—'सौम्यदृष्टि होनेसे श्वेत कमल कहे। अङ्क नौ हैं। नवोंकी एक पंक्ति है। यहाँ आठ सखियाँ हैं और एक किशोरीजी, इन नवोंकी दृष्टिकी एक पंक्ति हुई। अथवा अठारह नेत्रोंकी दो पंक्तियाँ हुई।'—यद्यपि यह अर्थ है, फिर भी यह प्रसङ्गको भूषित नहीं करता; क्योंकि यह अर्थ शान्तरसके योग्य है। इस समय किशोरीजीमें तीन दशाएँ वर्तमान हैं—अभिलाषा, स्मृति और चिन्ता। राजकुमारको देखनेकी अभिलाषासे जिस स्थलपर देखती हैं, वहाँ जब वे नहीं देख पड़ते तब करुणारस हो आता है, जिससे दृष्टिमात्रका वह काल कमलाश्रित ब्रह्माके वर्षोंके समान बीतता है। आतुरताका यही लक्षण है।

मा० त० वि०—(१) कमलाश्रित (भ्रमर) की श्रेणीकी वर्षा होती है। भाव यह है कि खेदके मारे तिलमिली छा जाती है मानो मोतियाबिन्दकी आदि दशा हो। अथवा (२) वर्ष=भारतवर्ष। मृगशावकनयनी जहाँ-जहाँ देखने लगती है, वहाँ-वहाँ वह अवलोकन ऐसा जान पड़ता है मानो भारतवर्षभरमें मृगोंका झुंड बँध गया है। सखियाँ भी उसी ओर देखती हैं कि कदाचित् किशोरीजी न देख पावें, हमको दिखायी दें तो हम दिखला दें और ऐसा हुआ भी।

प० प० प्र०—'*कमलसित*' क्यों लिखा, सित कमल सीधा-सीधा क्यों न लिखा? '*सिताम्बुज श्रेनी*' वे लिख सकते थे; पर ऐसा न करके उन्होंने अर्थानुकूल शब्दक्रम रखा है। भाव यह है कि जहाँ-जहाँ मृगशावकलोचनी श्रीसीताजी देखती हैं, वहाँ-वहाँ मानो कमलके आकारके सदृश 'सित-श्रेणीकी वर्षा ही करती हैं। सित=दीप्त=दीप्तमान्=प्रकाशयुक्त।—'**शुभ्रं दीप्तेऽभ्रके सिते**' (हेम:)। पूर्व '***करत प्रकास फिरइ फुलवाई***' से शरीरकी दीप्ति दिखायी और यहाँ नेत्रोंकी दीप्ति दिखाते हैं।' सीताजीकी दृष्टिसे कमलके आकारकी प्रकाशमय श्रेणी (पंक्ति) भूतलपर पड़ी हुई देखनेमें आती है। कमल गोल वर्तुलाकार होता है, उसके मध्यमें कमलकोष रहता है, जो कमलदलोंसे घिरा रहता है। सीताजीके नेत्र मृगशावकके नेत्रोंके समान हैं, अतः बीचमें कृष्णवर्ण गोलाकार पुतली है। ऊपर और नीचेके पलकोंसे कमलके समान नेत्र वर्तुलाकार हैं। पलकोंपरके बाल काले और विरल, छूटे-छूटे हैं। सीताजीके नेत्रोंसे जो प्रकाश निकलता है, वह पलकोंके बालोंमेंसे जमीनपर पड़ता है। पलकोंके बाल लम्बे और पतले हैं, अतः दो बालोंके बीचमेंसे भी लम्बा और पतला प्रकाश जो पड़ता है, वह कमलदलके समान दीखता है। इस प्रकार श्वेत कमलदलोंका वर्तुल-सा तैयार होता है। बाल वर्तुलके मध्यमें प्रकाश नहीं पड़ता, क्योंकि पुतली काली है। अतः बीचमें प्रकाशहीन कृष्णवर्णकी जमीन ही रहती है, जो कमलकोषके सदृश ही दीखती है। '***कहँ गए नृपकिसोर***' यह जाननेके लिये चञ्चलतासे इधर-उधर ताकती हैं और चल रही हैं, अतः कमलके समान प्रकाशमय वर्तुलोंकी श्रेणियाँ पृथ्वीपर देखनेमें आती हैं। इसीसे कहा कि '***बरिस कमलसित श्रेनी***'।

वि० त्रि०—कामका धनुष फूलका है, प्रत्यञ्चा भ्रमरमयी है और चञ्चल नेत्रावलियोंका कटाक्ष ही बाण हैं। पुष्पधन्वाने पहिले डंका दिया था, अब बाणवर्षा कर रहा है, क्योंकि कामका परम बल नारी है। इन्हीं शरोंसे रामजी आहत हैं—यह भाव भी '*हृदय सराहत*' से निकलता है।

**लता ओट तब सखिन्ह लखाए। स्यामल गौर किसोर सुहाए॥ ३॥**
**देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचानें॥ ४॥**

शब्दार्थ—**लखाये**=इशारेसे बताया या दिखाया।

अर्थ—तब सखियोंने सुन्दर श्याम गौर किशोर कुमारोंको लताकी ओटमें लखाया॥ ३॥ उनके ललचाये हुए नेत्र रूपको देखकर ऐसे प्रसन्न हुए (एवं नेत्र ललचाये और ऐसे प्रसन्न हुए) मानो अपनी निधि पहचाननेसे (प्रसन्न हुए हों)॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'लता ओट'* इति। [श्रीरामजीके छिपनेके सम्बन्धमें *'ओट'* शब्दका प्रयोग गोस्वामीजीने तीन जगह किया है। एक तो यहाँ *'लता ओट'*। दूसरे सुतीक्ष्णजीके प्रसङ्गमें, यथा—*'अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई। प्रभु देखैं तरु ओट लुकाई॥'* (३। १०। १३) तीसरे सुग्रीव और बालिकी लड़ाईमें, यथा—*'पुनि नाना बिधि भई लराई। बिटप ओट देखहिं रघुराई॥'* (४। ८८) इन तीनों प्रसङ्गोंमें *'ओट'* के साथ भिन्न-भिन्न शब्द आये हैं। प्रथममें लता, दूसरेमें तरु और तीसरेमें विटपकी ओटमें श्रीरामजीको दिखाया है। भेद साभिप्राय है। तीनोंमें पृथक्-पथक् रसोंका वर्णन है। पहलेमें शृङ्गाररसका प्राबल्य दिखाया।...... (प्र० सं०)] फुलवारी शृङ्गार है। शृङ्गारमें स्त्रीकी प्रधानता है। अत: शृङ्गाररसका प्रसङ्ग होनेसे यहाँ *'लता ओट'* कहा, क्योंकि *'लता'* स्त्रीलिङ्ग है। शान्तरसमें कवि *'तरु'* का प्रयोग करते हैं। श्रीसुतीक्ष्णजीके प्रसङ्गमें शान्तरसकी प्रधानता है। इससे वहाँ *'तरु'* कहा **'तारयतीति तरुः'** जो तारै उसका नाम 'तरु' है, इस तरह 'तरु' शान्तिरससूचक नाम है। और वीररसके प्रसङ्गमें कवि *'बिटप'* शब्द देते हैं (जो पुरुषवाचक है), यथा—*'इतना कहतु नीतिरस भूला। रनरस बिटप पुलक मिस फूला॥'* (२। २२९) इसीसे तीसरी जगह *'बिटप ओट देखहिं रघुराई'* कहा, क्योंकि वहाँ वीररसका प्रसङ्ग है। पुन: (ख) *'लता ओट'* कहनेका भाव कि लता फूलती है, और यहाँ दोनों भाई फूल तोड़ते हैं। (ग) *'लता ओट तब सखिन्ह लखाए'* इति। भाव कि चकित अवलोकनसे भगवान् नहीं मिलते। ईश्वर लतारूपी मायाकी ओटमें हैं। जब सखीरूपी श्रुतियाँ लक्षित कराती वा बताती हैं तब देख पड़ता है। यथा—*'पुरइनि सघन ओट जल बेगि न पाइअ मर्म। मायाछन्न न देखिए जैसे निर्गुन ब्रह्म॥'* (३। ३९) [(घ) *'सखिन्ह'* बहुवचन है। सब सखियाँ राजपुत्रोंको देखने और श्रीजानकीजीको दिखानेकी अभिलाषिणी हैं। अत: सबकी एक साथ ही उनपर दृष्टि पड़ी। इसीसे सभीका लखाना कहा। *'लखाए'* से प्रकट बोलना आदि नहीं पाया जाता, क्योंकि राजकुमार निकट हैं। (पां०) (ङ) *'लखाए'* शब्द प्रेमकी आँखमिचौनीमें कितना सुन्दर है। (लमगोड़ाजी) (च) अथवा 'किशोरीजीकी दृष्टि रुकी रही और सखियाँ तो प्रत्यक्ष देखती ही रहीं कि राजकुमार गुलाबकी कुंजमें कुन्दकी लताकी ओटमें हैं। जब करुणासे उत्कण्ठा, चिन्ता, चपलता, वितर्कादि संचारी और विवर्ण-स्वेदादि सात्त्विक भाव किशोरीजीके अङ्गोंमें देखे तब सबने जान लिया कि दर्शनकी आतुरताके कारण यह दशा हो गयी है। अत: तब सखियोंने लखा दिया कि देखो वे लताकी ओटमें हैं।' (वै०) अति उत्कण्ठा होनेसे श्रीसीताजीने न देखा, सखियोंने देख लिया। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—२ *'स्यामल गौर किसोर सुहाए'* इति। प्रथम जो सखी देख आयी थी, उसने जो-जो अङ्ग सखियोंको कह सुनाये थे, उन्हीं अङ्गोंको कहकर यहाँ सखियोंने श्रीकिशोरीजीको लताकी ओटमें राजकुमारोंको दिखाया। उस सखीने *'स्यामल गौर किसोर सुहाए'* बताया था। यथा—*'देखन बागु कुँअर दुइ आए। बय किसोर सब भाँति सुहाए॥ स्याम गौर किमि कहौं बखानी।'* *'लखाए'* से सूचित करते हैं कि सब सखियाँ श्रीसीताजीको बता रही हैं कि वे *'स्यामल गौर किसोर सुहाए'* ये ही हैं, देखो। [पुन: *'सुहाए'* अर्थात् रंग और अवस्था सुहावनी है। वा श्याम, गौर और किशोर जो पूर्व सखीसे सुनकर श्रीजानकीजीको *'सुहाए'* हैं। (पाँड़ेजी)]

## 'देखि रूप लोचन ललचाने' इति।

'प्रथम कहा था कि *'दरस लागि लोचन अकुलाने'* और अब कहते हैं कि *'देखि रूप लोचन ललचाने।'* जब रूपकी प्राप्ति हो गयी तब लालच होनेका काम ही क्या? जबतक दर्शन नहीं होता, वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती, तभीतक 'लालच' कहा जाता है, यथा—*'सकुचन्ह कहि न सकत गुरु पाहीं। पितु दरसन लालचु मन माहीं॥'* (३०७। ५) पिता जनकपुर आ गये, उनके दर्शन नहीं हुए इससे *'ललचाना'* कहा गया। पर यहाँ तो दर्शन हो गये तब *'ललचाने'* कैसे कहा?'—यह प्रश्न उठाकर लोगोंने उसका उत्तर यह दिया है—

१—*'ललचाने'* लोचनका विशेषण है। ललचाना पूर्व ही कहा था—*'दरस लागि लोचन अकुलाने।'* दर्शन होनेपर अधिक सुख हुआ, यथा—*'जो अति आतप ब्याकुल होई। तरु छाया सुख जानइ सोई॥'* अत: अर्थ है कि 'ललचाये हुए नेत्र रूप देखकर हर्षित हुए मानो अपनी निधि पहिचानी है।' रूप नेत्रका

विषय है, वही उसकी निधि है। श्रीराम-लक्ष्मण दोनोंके रूप नेत्रोंके निधि हैं, यहाँ दो निधियाँ हैं, एक श्याम, दूसरी गौर। श्याम अर्थात् नीलनिधि रामजी हैं, गौर अर्थात् शङ्खनिधि लक्ष्मणजी हैं। *'निज निधि पहिचाने'* अर्थात् नीलनिधि (श्रीरामजी) हमारी है, शङ्खनिधि हमारी नहीं है। वह उर्मिला—हमारी बहिनकी है। इसीसे रघुपति-छबि देखी और उन्हींको उरमें धारण किया, लक्ष्मणजीको नहीं।—(पं० रामकुमारजी)

२ देखकर भी ललचाये, क्यों? यह विचारकर कि श्यामताकी इस राशिमेंसे तिलमात्र श्यामता हमारे भीतर होनेसे यह आनन्द है। यदि कहीं समस्त यह राशि हमारे अन्तर्गत हो जाय तो अवाच्य सुख हो। *'निज निधि'* यही श्याम स्वरूप है, इसका अणुमात्र भाग पाकर नेत्रोंको देखनेकी शक्ति है, जैसा विहारीने कहा है—*'कोटि भानु जो ऊगवैं तऊ उज्यारु न होय। तनक श्यामकी श्यामता जो दृग परी न होइ॥'* अतः पूर्ण स्वरूप पा जानेसे हर्ष हुआ।' (रा० च० मिश्र)

३ 'यह लीलाका आदर्शमात्र है, वस्तुतः महारानीजीके नेत्रोंसे इनका क्षणमात्र भी वियोग नहीं। इसीसे कविने *'जनु'* पद देकर उत्प्रेक्षासे निर्वाह किया है।' मु० रोशनलाल आदि कई टीकाकारोंने अर्थ किया है कि 'रूपको देखकर नेत्र ललचा गये।' ललचानेका भाव यह है कि जितना देखनेमें आया इतना सुख न था। और जैसे कोई अपनी खोयी हुई वस्तुको पहिचानकर हर्षित होता है, वैसे ही ये हर्षित हुए।' (पाँड़ेजी)

४ आपका रूप ही ऐसा है कि जितनी देखो उतनी ही अधिक चाह उपजती जाती है, कभी भी तृप्ति नहीं होती। यथा—*'छबिसमुद्र हरिरूप बिलोकी। एकटक रहे नयन पट रोकी॥ चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा॥'"* ' (१। १४८)॥' "*एक लालसा बड़ि उर माहीं।*" "*चाहउँ तुम्हहिं समान सुत*"।' (१९४) श्रीमनुशतरूपाजीको देखनेपर भी ऐसी तीव्र लालसा उत्पन्न हुई कि वे तृप्त नहीं होते और यह लालच है कि सदा ही इनको देखते रहिये। इसीसे चाहते हैं कि आप पुत्र होकर लोचनोंको सुख दें। (प्र० सं०)

५ अब भी क्यों ललचा रहे हैं? इसके कारणका पता *'पहिचाने'* शब्दसे भी कुछ-कुछ लगता है। जैसे कोई खोयी हुई अपनी वस्तु सामने आ जाय तो प्रसन्नता अवश्य होती है, वैसे ही यहाँ बहुत कालसे बिछुड़े हुए आज इस लीलाभूमिमें श्रीरामजीके दर्शन होनेपर खुशी हुई। पर वे दूर हैं; अतः उनके निकटसे देखनेका लालच अथवा वह वस्तु फिर गायब न हो जाय उसपरसे दृष्टि हटानेकी इच्छा नहीं होती। (लालच बढ़ी कि नेत्र इन्हें देखते ही रहें, अब ये सामनेसे न जायँ।) स्मरण रहे कि यहाँ वस्तुका पा जाना नहीं कहते, केवल पहिचानना कहते हैं। यही भेद है जो श्रीसीताजीके विषयमें आगे कहते हैं—*'मुनि समीप देखे दोउ भाई। लगे ललकि लोचन निधि पाई॥'* देखिये बिछुड़े हुए मित्र मिलते हैं तो उन्हें छोड़नेको जी नहीं चाहता, बराबर देखते रहते ही बनता है। (रा० च० मिश्र)

६ पहले दर्शनके लिये ललचाये थे। दर्शन होनेपर लालच गया नहीं। अब पानेका लालच है। एक दृष्टिकोण यह भी है कि 'दर्शनके लिये ललचायी हुई आँखोंको अब अपनी निधि पहचाननेके कारण हर्ष हुआ' परंतु इसमें *'मरज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की'*—यह बीचकी श्रेणी रह जाती है। (लमगोड़ाजी) [मिलान कीजिये—*'कै ए सदा बसहु इन्ह नयनन्हि, कै ए नयन जाहु जित एरी।'* (गी० १। ७६)—यह नेत्रोंका लालच है।]

७ जो नेत्रोंको आकर्षित करे उसे 'रूप' कहते हैं, जैसे चुम्बक लोहेको। श्रीराम रूपके निधि हैं ही। इसीलिये नेत्र दूरसे देखकर हर्षित हुए और निकटसे अघाकर देखनेको ललचाये। (वै०)

८ अथवा, वेदवतीरूपमें बहुत तपस्या की थी; पर दर्शन न हुए थे। दर्शन आज ही हाथ लगे। अतः *'ललचाए'* और *'हरषे'*। (मा० त० वि०)

९ ललचाये कि बहुत-से नेत्र होते तो अघाकर देखतीं। (रा० प्र०) *'पहिचानें'* से पूर्वका परिचय सूचित होता है।

१० (क) सुनकर *'दरस हेतु लोचन अकुलाने'* और रूपको देखकर नेत्र ललचाने। *'ललचाने'* का भाव कि और भी मनोयोगसे देखनेके लिये ललचाये। (ख) श्रीरामजी दूसरोंकी भी निधिरूप ही देख पड़ते थे, पर वे उनकी निधि नहीं थे, अतः वे लूटने चले थे; यथा—*'धाए धाम काम सब त्यागी। मनहु*

*रंक निधि लूटन लागी॥'* पर *'निज निधि'* को सीताजीने पहिचाना। इसीलिये कहा था—*'प्रीति पुरातन लखै न कोई।'* आँखें प्रसन्न हो उठीं कि यही तो हमारी निधि है। (वि० त्रि०)

**थके नयन रघुपति छबि देखे। पलकन्हिहू परिहरीं निमेषें॥५॥**
**अधिक सनेह देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥६॥**

शब्दार्थ—भोरी=स्तम्भित, यथा—*'सूर प्रभुकी निरखि शोभा भई तरुनी भोरि।'*—

अर्थ—श्रीरघुनाथजीकी छबि देखकर नेत्र 'थक' (स्थिर, अचञ्चल हो) गये। पलकोंने भी पलक मारना छोड़ दिया। अर्थात् एकटक देखते खुले रह गये॥ ५॥ अधिक स्नेहसे (अर्थात् स्नेहकी अधिकताके कारण) देह *'भोरी'* हो गयी। (देहकी सुध-बुध न रह गयी) ऐसा जान पड़ता है मानो शरद्-ऋतुके चन्द्रमाको (देखकर) चकोरी निहार रही हो॥ ६॥

## 'थके नयन रघुपति छबि देखे'

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि *'थके'* अर्थात् अचञ्चल हुए। इससे जनाया कि रूप अपार है। देखकर थक गये, पार न पा सके; यथा—*'सील सुधाके अगार सुखमाके पारावार पावत न पैरि पार पैरि पैरि थाके हैं॥'* (गीतावली १। ६२) *'रामहि चितै रहे थकि लोचन। रूप अपार मार मद मोचन॥'* (२६९। ८) (परशुराम) अर्थात् छबि समुद्र है, इसीसे अपार है। छबि-समुद्रको देखकर नेत्र एकटक एक ही जगह लगे रह गये, यही *'थके नयन'* का भाव है। यथा—*'छबिसमुद्र हरिरूप बिलोकी। एकटक रहे नयनपट रोकी॥'* (१४८। ५) नेत्र *'थके'* इससे पलक भी खुले-के-खुले रह गये।

गौड़जी लिखते हैं कि *'थके'* संस्कृतके 'स्थग' धातुसे है, जिसका अर्थ है 'ठग जाना।' *'थके'* का वास्तविक भाव है 'ठगे गये, इसलिये निश्चल भावसे स्तम्भित हो गये।' यात्रीका जब सर्वस्व हरण हो जाता है तब वह चौकन्ना-सा खड़ा रह जाता है, किधर जाय, अपने मालको कहाँ तलाश करे। यहाँ हृदय छीन लिया गया, चितवन कैद कर ली गयी, ठग ली गयी, इसीलिये नयन *'थके'।*

मुं० रोशनलाल लिखते हैं कि *'थकना'* इससे कहा कि देरसे *'हेर'* (ढूँढ़) रहे थे। वा *'थके'* अर्थात् छबिपर ठहर गये। (नोट—थाकना बँगला भाषामें ठहरनेको कहते हैं) वा इस छबिका इतना विस्तार है कि उसीका आनन्द लेते-लेते थक गये, उससे पार हो अङ्गोंतक न पहुँचे, जैसे सूर्यकी आभासे पार होकर सूर्यतक किसीकी दृष्टि नहीं पहुँचती। अर्थात् जैसे कोई इच्छा करे कि देखें पर उनके तेजके आगे उन्हें न देख सके।' (पाँड़ेजी) वीर कविजी लिखते हैं कि *'थके'* शब्दमें लक्षणामूलक गूढ़ व्यङ्ग है।

त्रिपाठीजी लिखते हैं कि छबिका भार देरतक नेत्र सँभाल न सके, इसलिये थक गये। थका हुआ हिलता-डोलता नहीं, अतः पलकोंने भी हिलना-डोलना छोड़ दिया।

नोट—१ *'रघुपति'* कहकर जनाया कि रघुनाथ (वा जीवोंके पति) श्रीरामजीकी छबि देखी न कि लक्ष्मणजीकी। (पं० रा० कु०) पं० रामचरण मिश्रजी लिखते हैं कि श्रीरामजीके हृदयने महारानीजीको स्वीकारकर उनके मुखको अवलोकन किया, तब महारानीने भी महाराजकी ओर देखा। इसीको विवाह-पद्धतिमें 'परस्पर' कहा है—**'परस्परं समंजेथा'** यह मन्त्र है। अतः पतिभाव होनेसे 'रघुपति' पद दिया। २—*'पलकन्हिहूँ परिहरी निमेषें'* और *'मनहुँ सकुचि निमि तजेउ दिगंचल'* का मिलान कीजिये। ☞नयन थके कहकर इस चरणमें पलकोंका थकना कहा और *'अधिक सनेह देह भै भोरी'* से देहका भी थकना कहा।

टिप्पणी—१ (क) *'अधिक सनेह'* इति। भाव कि स्नेह तो तभी हो गया था जब सखीके मुखसे रूप-सौन्दर्यको सुना था, अब देखनेसे स्नेह अधिक हो गया। सामान्य स्नेहमें देहकी खबर बनी रही। अधिक स्नेह होनेपर देहसुध भूल गयी। (ख)—नयन, पलक और देह तीनों थक गये, यह कहकर तीनों (के थकने) की उपमा देते हैं। *'सरद ससिहि जनु चितव चकोरी।'* चकोरके नयन, पलक और देह तीनों थकते हैं। इस तरह तीनोंका दृष्टान्त एकहीमें यहाँ पूर्णरूपसे कहा गया। यहाँ श्रीरामजीका

मुखचन्द्र ही शरद्पूनोंका चन्द्रमा है। यद्यपि यहाँ मुख शब्द नहीं दिया है पर अन्यत्र यह शब्द आया है; यथा—'*भए मगन देखत मुख सोभा। जनु चकोर पूरन ससि लोभा॥*', '*रामचंद्र मुखचंद्र छबि लोचन चारु चकोर*', '*अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा। सियमुख ससि भए नयन चकोरा॥*', इत्यादि। इससे यहाँ भी 'मुख' का ग्रहण हुआ। पुनः (ग)—चन्द्र-चकोरके दृष्टान्तसे दोनोंकी परस्पर अनन्यता दिखायी। जैसे चकोर चन्द्रको छोड़ अन्यकी ओर नहीं देखता, वैसे ही श्रीरामजी जानकीजीको छोड़ अन्य किसी स्त्रीकी ओर नहीं देखते; यथा—'*मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहुँ पर नारि न हेरी।*' (२३१। ६) वैसे ही श्रीजानकीजी श्रीरामजीको छोड़ अन्यकी ओर नहीं देखतीं; यथा—'*तव अनुचरी करउँ पन मोरा। एक बार बिलोकु मम ओरा।*' (५। ९) '*तन मन बचन मोर पनु साचा। रघुपति पद सरोज चितु राचा।*' (२५९। ४) '*जौं मन बच क्रम मम उर माहीं। तजि रघुबीर आन गति नाहीं।*' (६। १०८) '**अनन्या राघवेणाहं भास्करेण यथा प्रभा।**' (वाल्मी० ५। २१। १५) (ये वचन भी स्वयं श्रीसीताजीका है जो उन्होंने रावणसे कहा है।) जैसे श्रीरामजीने अपना हृदय श्रीसीताजीको दे दिया, वैसे द्विगुण प्रेमसे श्रीसीताजी श्रीरामजीको अपने हृदयमें धारण किये हुए हैं। इसीसे प्रभुने कहा है—'*तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मन मोरा॥ सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं।*' (५। १५) '**मनस्वी तद्गतमनास्तस्या हृदि समर्पितः।**''' **तस्याश्च भर्ता द्विगुणं हृदये परिवर्तते।**' (वाल्मी० १। ७७। २६-२७) इसीसे ग्रन्थकारने श्रीरामजीको चकोर और सियमुखको चन्द्र तथा श्रीसीताजीको चकोरी और श्रीराममुखको चन्द्रकी उपमा दी। दोनोंके नेत्र एक-दूसरेकी शोभापर चकोर हो रहे हैं। एक चकोर है तो दूसरी चकोरी है।

पं० रा० च० मिश्र—यद्यपि यहाँ केवल '*भोरी*' पदमें उत्प्रेक्षा घटित है पर कविका आशय गूढ़ है। राजकुमार लता-ओटमें हैं, उनका सर्वाङ्ग दर्शन नहीं हो रहा है किंच मुख ही दिख रहा है। जैसे लता-ओट सरकारी झाँकी दिख रही है, वैसे ही कविता-ओट-मुखदर्शनका भाव झलक रहा है, किंच कविने मर्यादा-हेतु उपमेयको लुप्तकर उपमान भर कहा है। वहाँ रामपक्षमें सामान्य शशि कहा और नेत्र ही चकोर बने, स्वयं नहीं—'*सियमुख ससि भए नयन चकोरा*', और यहाँ विशेष शरद्-शशि कहा और स्वयं चकोरी बनीं। चकोरकी तृप्ति शरद्-शशिके सिवा सामान्य शशिसे नहीं। अतः यहाँ शरद्-शशि कहकर तृप्तिकी पूर्ति की। वहाँ जब साधारण शशिसे तृप्ति न हुई, तब मन-मधुपको मुखसरोजके छबि-मकरन्दसे तृप्त किया है। इसी अतृप्तिको दिखलानेके लिये ही तो फिर '*मुख सरोज मकरंद छबि करै मधुप इव पान।*' (२३१) कहा है। ['*सियमुख ससि भए नयन चकोरा*' में शरद्-शशि न कहकर केवल शशि लिखकर जनाया कि श्रीरामजीकी देह भोरी न हुई। (वि० त्रि०)]

☞ श्रीराजारामशरण—विचार करनेकी बात यह है कि दोनों ओर भाव एक ही प्रकार बढ़ते हैं। हाँ, स्त्रीमें धीरे परंतु अधिक जोरदार और स्थायी होते हैं, कारण कि वहाँ हृदय प्रधान होता है और पुरुषमें मस्तिष्क प्रधान।

मुं० रोशनलाल—१ जबतक सामान्य स्नेह रहा तबतक सँभाले रहीं, जब सुने हुएसे विसेष रूप देखा तब अधिक सनेहसे देहसुध जाती रही। जैसे शरद्-शशिको देख चकोरीको देहका भान नहीं रह जाता। पुनः, २—जैसे शरद्-ऋतुके घामसे तप्त चकोरीको शरच्चन्द्रकी शीतल किरणका स्पर्श होते ही देहसुध नहीं रहती वैसे ही पिताकी प्रतिज्ञासे तप्त राजकुमारी राजकुमार शरच्चन्द्रके रूप-किरणको देख शीतलता पाकर देहसुध भूल गयी।

बैजनाथजी—आसक्तिसे परस्पर एक-दूसरेका अवलोकन प्रेमका तीसरा भेद 'संक्रान्ति दशा' है। '*थके नयन*' यह श्रम संचारी, '*देहभोरी*' में आलस्य संचारी, दोनों ओर (परस्पर) अवलोकनमें रति स्थायी—इस तरह शृङ्गार-रसकी पूर्णता है।

**लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हें पलक कपाट सयानी॥ ७॥**

अर्थ—नेत्रोंकी राह श्रीरामचन्द्रजीको हृदयमें लाकर उस सयानी (श्रीसीताजी) ने पलकरूपी किंवाड़े लगा दिये॥ ७॥

पं० रामकुमारजी—१ पूर्व कहा था कि *'जहँ बिलोकि मृगसावकनयनी। जनु तहँ बरिस कमलसितश्रेनी॥'* अब यहाँ ***'लोचन मग रामहिं उर आनी'*** कहकर जनाते हैं कि श्वेत कमलोंरूपी पाँवड़े देती हुई नेत्ररूपी मार्गसे रामजीको हृदयमें ले आयीं। पुनः २—*'लोचनमग'* का भाव कि मूर्ति बिना देखे ही (वेद, पुराण, शास्त्र, रामायणादि ग्रन्थोंमें केवल पढ़ या सुनकर ही बुद्धिके अनुभवसे) मनसे समझकर हृदयमें लोग ले आते हैं, वह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो मूर्ति साक्षात् प्रत्यक्ष सामने खड़ी है, इसीसे यहाँ (श्रवण या मनरूपी मार्गसे लाना न कहकर) लोचन-मार्गसे लाना कहा। जो वस्तु सामने देख पड़ती है, वह नेत्रहीद्वारा अन्तःकरणमें जाती है। तात्पर्य कि मूर्तिको देखकर हृदयमें धारण कर लिया। [अथवा, श्रीरामजी बड़े कोमल हैं, यथा—*'कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा'।* नेत्रसे बढ़कर कोमल वस्तु नहीं। जो वस्तु उत्तम और अत्यन्त प्रिय होती है, उसे लोग बड़े यत्नसे रखते हैं। अतः इन्हें परम प्रिय जानकर नेत्ररूपी कोमल मार्गसे लाकर उरमें रखा। इसी प्रकार श्रीरामजीने इनको *'चारु चित्त भीती लिखि लीन्हीं'।* अथवा, शब्द होता तो श्रवण-मग कहा जाता; यहाँ रूपको हृदयमें रखा है, इसीसे (रूपके लिये) *'लोचन मग'* कहा। (पाँ०) वा, और किसी प्रकार ये पकड़े न जा सकेंगे, अतः हृदयमें बंद (कैद) कर लिया। (रा० च० मिश्र) उधर लोचनमगसे छबि मकरन्दका पान हो रहा था, इधर लोचनमगसे स्वयं श्रीरामजीको हृदयमें लाकर पलककपाट बन्द कर लिया। प्रभु प्रेमके बन्दी हो गये। कामका विश्वविजय पूरा हो गया। यहाँ विहृत हाव है। संयोगसमय लज्जादिकसे अभिलाषाकी असन्तुष्टिको विहृत हाव कहते हैं। जब भक्त प्रेमवश होता है तभी भगवान् उसके बन्दी होते हैं। *'अवसि देखिए देखन जोगू'* दूसरी बात है और प्रेमवश हो जाना दूसरी बात है। (वि० त्रि०)]

नोट—१ गा० त० वि० कार लिखते हैं कि हृदयमें लानेका भाव यह है कि हृदय 'मानस-कुञ्ज' है, जिसमें भावकी भूमि, प्रीतिका प्राकार, दयाका द्वार, दीनताका दासा, दास्यताकी देहरी, चितवनकी चौखट, चातुर्यकी चौसंडी, कीर्तनका किंवाड़, वन्दनाका वन्दनवार, मुस्कानकी मेहराब, मनोरथका मुर्गोल, छायाकी छजुली, गौरवका गोफा, अनुरागका आँगन, करुणाकी कुरसी, मोदका महरूर, भक्तिकी भीति, श्रवणकी सीढ़ी, चाहकी चित्रसारी, विवेककी बारहदरी है। उसमें नेहकी निसेनी और ज्ञानका बँगला है जिसपर क्रियाका कलश है। इसपर प्रेमका पत्तर है। विचारका वितान है, उसपर मनका मुक्ता शुद्ध वासनाका बिस्तर, गुरुज्ञानका गलीचा, सेवाधर्मका सिंहासन, जिसपर आवेशका आसन, गूढ़ताकी गादी, तेज-पुञ्जकी तकिया, यशका जशन (महफिल), शान्तिका छत्र, अद्भुत चमत्कारका चमर, समताकी शय्या, विज्ञानका बिछौना, परप्रभाका प्रकाश, रागानुरागका अतरदान, केलिकलाका पानदान, व्यंग वचनका पीकदान, परस्पर कटाक्षका गुलाबपाश, चतुष्पाद विभूतिका चौघड़ा, निर्वाणकलाका शमादान है। नानारसोन्मुखी सहचरियोंसे युक्त इस 'मानसकुञ्जमें' लोचनमगसे श्रीरामजीको ले आयीं। अर्थात् निवृत्ति-सम्पन्न चित्तवृत्ति और निमेषोन्मेषवर्जित दृष्टि जहाँ हुई वहीं भगवत्-तत्त्वका अनुभव होता है।

टिप्पणी—*'दीन्हे पलक कपाट सयानी'* इति। (क) पलक बंद कर लिये, अतः *'सयानी'* कहा। बिना आँख बंद किये बेपर्दगी थी, सब कोई देखते थे कि श्रीसीताजी श्रीरामजीको देख रही हैं। पलक बंद कर लेनेसे सब बात बन गयी—परदेसे श्रीरामजीको देख रही हैं, इस तरह परदेसे दर्शन करनेमें अब लज्जा वा संकोच किसीका नहीं होनेका। दूसरे, सखियाँ यही जानेंगी कि श्रीसीताजी गौरीजीका ध्यान कर रही हैं, यह परदा आँख मूँद लेनेसे हो गया। पुनः, सब सखियोंको *'सयानी'* कहा था, यथा—*'संग सखी सब सुभग सयानी।'* (२२८। ३) अब दिखाया कि श्रीसीताजी भी 'सयानी' हैं। [(ख) *'दीन्हे कपाट'* अर्थात् हृदयमें रखकर नेत्र बंद कर लिये, हृदयमें ध्यान करने लगीं, जिसमें सखियाँ न जानें। अथवा, कहीं राजपुत्र अदृश्य न हो जायँ, अकुलाकर निकल न भागें, इसलिये पलकरूपी

किवाड़े लगा लिये। (यह शृङ्गाररसका भाव है। पाँ०) 'सयानपन' यह है कि अपनी बात जितनी गुप्त रहे उतनी ही भली है। (पं०)]

**बैजनाथजी—**पलकको कपाट कहकर नेत्रोंको द्वार सूचित किया। सयानपन यह है कि सखियाँ इनकी विशेष आसक्ति न जान जायें। अथवा, राजकुमार कहेंगे कि प्रथम हमें देखकर पल्ला बंद कर लिया और अब एकटक देख रही हैं, इस मर्यादा-हेतु पल्ला बंद कर लिया। (परंतु मेरी समझमें नहीं आता कि पूर्व पल्ला बंद करना किस चौपाईमें कहा गया है।) अथवा, प्रथम चकित होकर ढूँढ़ना पड़ा था, इस भयसे राजकुमारको 'बंधुवा' (कैद) कर लिया। अथवा, उधर श्रीलक्ष्मणजी साथ हैं और इधर सखियाँ साथ हैं। इनके समीप शृङ्गारकी पूर्णताका अभाव है; अतएव उरको एकान्त स्थान विचारकर उसमें प्रभुको पाकर पल्ला बंद कर लिया—यही विशेष सयानपन है।

शीलावृत्ति—*'सयानी'* का भाव यह है कि श्रीसीताजीने मनमें विचार किया कि एक क्षण लताकी ओटमें हो जानेसे हमको कैसा भारी दुःख हुआ, छटपटा गयीं, और ये अभी यहाँसे चले जायँगे और मैं भी चली जाऊँगी तब प्राण कैसे रहेंगे? अतएव अभी इनको देखते-देखतेमें ध्यान कर लूँ, जो कोई अंश ध्यानमें न आवे तो अभी देखकर सुधार लूँ, इसी हेतु *'दीन्हे पलक कपाट सयानी'*। —*'ध्यान तुम्हार कपाट'* इति। (सुन्दरकाण्ड)

नोट—२ संत श्रीगुरुसहायलालजीका मत है कि 'रूप देखकर आँख मींच लेनेपर औरका और भी लक्ष्य होने लगता है, जैसे सुतीक्ष्णजीके प्रसंगमें।—*'हृदय चतुरभुजरूप देखावा'*। इससे यहाँ 'सयानी कपाट' जो शांभवी मुद्रा है, उससे तात्पर्य है। अर्थात् पलकोंपर *'सयानी कपाट'* दे दिये। अर्थात् नेत्र खुले ही रहे पर लक्ष्य-वस्तुके अतिरिक्त और कोई वस्तु न देख पड़े, इसे योगी जानते हैं।' और भी अनेक भाव लिखे हैं क्लिष्ट समझकर यहाँ नहीं लिखे गये।

श्रीगौड़जी—श्रीकिशोरीजी भी सयानी हैं। उनके संगकी सखियाँ भी *'सब सुभग सयानी'* हैं। कोई किसीसे कुछ कहती नहीं हैं। अपने मन-ही-मन समझ जाती हैं कि किशोरीजी 'प्रेमवश' हैं। प्रेमवश ही होकर उन्होंने सरकारको देखकर ध्यानमें आँखें मूँद ली हैं। प्रकरणभरमें कहीं आँखें चार होनेकी कथा नहीं है। कितनी कोमलता है। *'नखशिख शोभा'* देखकर दृष्टिके पाँवड़े बिछाकर उसपरसे सादर आँखोंकी राह हृदय-मन्दिरकी एकान्त जगहमें ले गयीं और पलकके किवाड़ बंद कर लिये। हृदयेश्वर भागने भी न पावें, एकान्त भी रहे, उधर स्थूलरूपमें आँखें चार होनेकी अकोमल घटना भी न घटे, सखियाँ भाँपने भी न पावें, समझें कि गौरीजीके ध्यानमें हैं। यही सयानपन है। एकान्तमें उधर हृदयेश्वरकी विधिवत् पूजामें मग्न हैं। इधर सरकारकी यह दशा है कि *'करत बतकही अनुज सन मन सिय रूप लोभान।'* यही मौका भी था, क्योंकि आँखें चार होनी उचित नहीं।

श्रीराजारामशरणजी—१ *'लोचन मग'* कितना कोमल रास्ता है। २—*'सयानी'* इति। प्रेमकी आँखमिचौनीमें कैसा सुन्दर प्रसंग है? एक बार बँधुआ बना पाया तो हृदयमें बंद कर दिया, मानो संकेत है कि अब कैसे जाइयेगा? शेक्सपियरने भी स्त्रीको एक जगह व्यञ्जनासे बंदीगृह कहा है। और नसीमका पद भी प्रसिद्ध है—*'जिंदाँमें जो जिंदा भेजना हो। अपने दिले तंगमें जगह दो।'* सच है, प्रेमिकाके हृदय-वासमें जीवन है। यह भी देखिये कि यहाँ कोमलता अधिक है, रास्ता, निवासस्थान और पलककपाट सब ही कोमल।

नोट—३ ☞ यहाँसे श्रीसीताजीके प्रेमके पात्र स्पष्ट ही राम हो गये। अब पृथक्करण हो गया। इसके पहले भी Aesthetic faculty सौन्दर्यानुभवकी शक्तिने भी थोड़ा पृथक्करण किया था, *'थके नयन रघुपति छबि देखे'*। नहीं तो दोनों भाइयोंके रूपमाधुर्यका प्रभाव *'श्यामल गौर किसोर सुहाए'* तक एक-सा था। सूक्ष्म अवस्थाएँ विचारणीय हैं।

[मुं० रोशनलाल—'शब्द होता तो श्रवणमग कहा जाता, रूपके लिये लोचनमग कहा। *'कपाट दीन्हे'*

अर्थात् हृदयमें रखकर नेत्र बंद कर लिये, हृदयमें ध्यान करने लगीं जिसमें सखियाँ न जानें। वा, कहीं राजपुत्र अदेख (अदृश्य) न हो जायँ] अकुलाकर निकल न भागें। इसीसे सयानी कहा।]

**जब सिय सखिन्ह प्रेमबस जानीं। कहि न सकहिं कछु मन सकुचानीं॥ ८॥**

अर्थ—जब सखियोंने श्रीसीताजीको प्रेमके वश जाना तब वे मनमें बहुत सकुचीं पर कुछ कह नहीं सकतीं॥ ८॥

पं० रामकुमारजी—१ प्रेममें तनकी दशा भूल जाती है। श्रीजानकीजी प्रेमके वश हो गयी हैं; अर्थात् उनको देहकी सुध नहीं रह गयी, यथा—'*अधिक सनेह देह भै भोरी।*' उन्होंने पलक 'मूँद' लिये हैं। जब सखियोंने भाँप लिया कि ये प्रेमवश हो गयीं, तब कुछ कहना चाहिये कि इन्हें आँखें खोलकर देखो, पलक क्यों बंद कर लिये, इत्यादि। पर सखियाँ कुछ कह नहीं सकतीं, क्योंकि वे संकोचमें पड़ी हैं कि यदि हम कुछ कहती हैं तो इनको संकोच होगा और ऐसा हुआ भी जैसा आगे स्पष्ट है कि जब एक सखीने देखनेको कहा तब श्रीजानकीजीको संकोच प्राप्त हुआ, यथा—'*बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू। भूपकिसोर देखि किन लेहू॥ सकुचि सीय तब नयन उघारे।*' अतएव जानकीजीको संकोच होगा, इसीसे वे कहनेमें सकुचाती हैं। २ '*कहि न सकहिं*' से जनाया कि कहनेका मौका था पर संकोचसे न कहा।

बैजनाथजी—'*प्रेमबस जानीं*' इति। ध्यानमें इष्टरूपको पाकर मग्न होना प्रेमकी 'क्रान्तदशा' है, यथा—'*देह भूलि सुख ध्यान प्रिय दशा क्रान्त की बाढ़ि। बैठ सुतीक्षण अचल मग राम जगावत ठाढ़ि।*' उसी प्रकार श्रीकिशोरीजी श्रीरामजीको हृदयमें पाकर ध्यानमें मग्न हैं, सखी इनको ध्यानसे जगावेंगी।

नोट—१ '*मन सकुचानीं*' इति। 'सकुचाने' के कुछ भाव ये हैं—(क) शास्त्रमें ध्यान छुड़ानेका निषेध है। (ख) राजकुमारीका भय है अथवा माताका भय है, वे यह प्रसंग सुनेंगी तो हमपर रुष्ट होंगी (पं०)। (ग) जब दम्पति एकान्त स्थानमें हों तो उनके सुखमें बाधा करना उत्तम सखियोंको उचित नहीं है—एक ओर तो इस विचारमें हैं और दूसरी ओर साथ ही यह विचार लाचार करता है कि इस समय राजकुमार सामने खड़े हैं, संयोग पुनः मिलना दुर्लभ है, इनको न बताना भी अनुचित है, अतः इस असमंजससे 'सकुचानीं।' (वै०)। अथवा, (घ) प्रथम एक सखीने कहा था कि '*अवसि देखिअहि देखन जोगू*' अब सोचती हैं कि बड़ी अनुचित बात हुई, अतः 'सकुचानीं' (मा० त० वि०)।

गौड़जी—'*सकुचानीं*' इति। सखियोंको मन-ही-मन संकोच है। संकोच सैकड़ों तरहका है। दर्शन कराके प्रेमवश करनेकी जिम्मेदारी (उत्तरदायित्व) का, देरका डर, ध्यानसे जगानेमें एवं असमय नेह लगानेकी अनीतिका खयाल, फिर सामने सरकार हों और दर्शनका मौका निकला जाता हो और यह उन्हें चेतावनी कैसे दें कि सामने प्रत्यक्ष दर्शन जितने क्षण हो सकते हैं कर लो, फिर ध्यान तो पीछे भी कर सकोगी। यहाँतक खयाल आया कि एकसे रहा न गया, ढिठाई कर ही बैठी। 'अजी कहाँ हो! गौरीका ध्यान तो फिर कर लेना। राजकिशोरको देख क्यों नहीं लेती हो!'—सयानी सखियोंके साथमें होनेका यही तो लाभ है। ☞ यह प्रकरण ध्वनि-काव्यका परमोत्तम उदाहरण है। यहाँके शब्द-शब्दमें व्यंजनाशक्ति उबली पड़ती है। जितने भाव एक एक शब्दमें व्यञ्जित हैं उनको विस्तारसे कहनेको पोथियाँ काफी नहीं हैं।

नोट—२ संत श्रीगुरुसहायलालजीने इस चौपाईके अनेक भाव कहते हुए एक भाव यह भी कहा है कि यहाँ अर्घ्य-पाद्यसे लेकर वस्त्रदानपर्यन्त षोडशोपचार पूजन भी गुप्त रीतिसे आ जाता है। 'लोचन-मगसे मानसकुञ्जमें ले आयीं यह 'आवाहन' किया, तदनन्तर पलक अर्थात् पलंग (वृन्दावनी बोलीमें) दिये, इति 'आसन।' तत्पश्चात् 'क' अर्थात् जलके सब उपचार किये। वहाँसे 'पाट' अर्थात् पाटाम्बरपर्यन्त निवेदन किये। कारण यह कि जब किसी सज्जनका आगमन होता है तो पहले खड़े होकर आगे हो ले आना, तब पैर धुलाना, आसन देना, अतर दिखाना, जलपान, तत्पश्चात् पूर्ण भोजन कराना, आचमन

कराना, शयनकी तैयारी कर विश्राम देना, चलते समय द्रव्य, भूषण और वस्त्र देना चाहिये। यही सब यहाँ किया है।' (मा० त० वि०)

**दो०—लता भवन तें प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ।**
**निकसे जनु जुग बिमल बिधु जलद पटल बिलगाइ॥ २३२॥**

शब्दार्थ—**लता भवन**=लताओंसे बना हुआ घर; लताकुञ्ज। **पटल**=आवरण, पर्दा। यथा—'*सुनि मृदु गूढ़ बचन रघुपति के। उघरे पटल परसुधर मति के॥*' **निकसे**=निकले।

अर्थ—उसी समय (जब सखियाँ श्रीसीताजीको प्रेमवश जानकर संकोचमें पड़ी थीं। दोनों भाई लताओंके कुञ्जसे प्रकट हो गये, मानो दो निर्मल चन्द्रमा मेघावरणको अलग कर निकले हों॥ २३२॥

नोट—१ '*लता भवन*' इति। पूर्व कहा था कि '*लता ओट तब सखिन्ह लखाए*' अतः यहाँ लता-भवन कहकर जनाया कि वहाँ लताओंका कुञ्ज बना हुआ था। श्रीराम-लक्ष्मणजी राजकुमार हैं अतः उनके सम्बन्धसे 'भवन' शब्द दिया। अथवा पहले 'लता ओट' कहा था, अब परस्पर स्वीकार-भावसे गृहस्थाश्रमका सम्बन्ध जनाते हुए 'कुञ्ज' न कहकर 'भवन' कहा। (रा० च० मिश्र)। प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि भवन शब्दसे गृहस्थाश्रमादिकी कल्पना करना शुद्ध सात्त्विक शृङ्गाररसकी मर्यादाका भंग करना है।

टिप्पणी—१ '*लता भवन तें प्रगट भे*⋯' इति। (क) भगवान् प्रेमके अधीन हैं, प्रेमसे प्रकट होते हैं; यथा—'*हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥*' (१८५। ५) अतः जब श्रीजानकीजी प्रेमके वश हुईं तब भगवान् प्रकट हो गये। पुनः दूसरा दूरका अभिप्राय यह है कि पूर्व कह आये हैं कि '*मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्हीं। मनसा बिश्वबिजय कहँ कीन्हीं॥*' काम डंका बजाकर विश्वविजयके लिये चला। पास आकर वह बाण चलाने लगा। '*जहँ बिलोक मृगसावकनैनी। जनु तहँ बरिस कमलसितश्रेनी॥*' स्त्रीका दृग्पात कामका बान है, यथा—'**नियतिं तु स्मरनाराचाः कान्तादृग्पातकैतवात्।**' जब काम बाणोंकी वृष्टि करने लगा तब ये लता-ओटमें छिपे हुए थे, सखियोंने दिखाया कि देखो वह लता-ओटमें हैं। जब बाणवृष्टि बंद हुई, ('*लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हें पलक कपाट सयानी*' नेत्रोंका मुँदना ही बाणवृष्टिका बंद होना है), तब तुरत लताकुञ्जसे दोनों भाई प्रकट हो गये।

प० प० प्र०—(क) यह शुद्ध माधुर्यका प्रसंग है। ऐश्वर्यभावसे जान लेना माना जाय तो सीताजी तो नेत्र मूँदे हैं, प्रेमसमाधिमें मग्न हैं, दर्शन कौन करेगा? प्रेमके कारण दर्शन देना था तो पहले ही क्यों न दिया? अतः प्रेमके कारण दर्शन देनेको प्रकट हुए ऐसा मानना सुसंगत नहीं है। (ख) सखियाँ सीताजीकी प्रेमविवशता देखकर संकुचित हैं, उनकी प्रेमसमाधि सखियोंकी चिन्ताका विषय हो गयी है। इन सखियोंको श्रीराम-लक्ष्मणका रूपसागर दिखाकर उनकी क्या दशा होती है यह कवि प्रेक्षकोंको दिखाना चाहता है। इसलिये यह नाट्यप्रवेश है। (ग) आधिदैविक दृष्टिसे तो '*सो सब कारन जान बिधाता*' ही सत्य है। (घ) प्रसंगानुकूल ऐतिहासिक दृष्टिसे लताओंके बीचमेंसे सीधा रास्ता छोड़कर निकलनेमें हेतु यह है कि विलम्ब हो गया है, गुरुमहाराज पूजाके लिये दल-फूलकी राह देख रहे होंगे, अतः शीघ्र जाना चाहिये, ऐसा जानकर जिस रास्तेसे आये थे उसीसे शीघ्र लौटनेके विचारसे लताओंको चीरकर निकल पड़े। (ङ) जिस मदनने रणदुन्दुभी बजाकर रघुवीरोंको जीतनेका विचार किया है उसकी सेना (परमसुन्दरी सखियों) के सामने रघुवीरोंको प्रकट करके और यह दिखाकर कि उस सेनाका बल कुछ भी कारगर न हो सका, कवि रघुवीरोंके मनकी सहज पावनता सिद्ध करेंगे।

नोट—२ '*निकसे जनु जुग बिमल बिधु*' इति। (क) 'चन्द्रमा एक है, दोका उपमान कैसे?' इस प्रश्नको उठाकर मिश्रजी उसका उत्तर यह देते हैं कि श्रीलक्ष्मणजी चन्द्रस्वरूप हैं और श्रीरामजी चन्द्रान्तर्गत श्यामतारूप हैं। यथा—'*कह हनुमंत सुनहु प्रभु ससि तुम्हार प्रिय दास। तव मूरति बिधु उर बसति सोइ स्यामता अभास॥*' (६। १२) (ख) मा० त० वि० कारने यह शङ्का उठाकर कि 'प्रथम तो केवल '*रामहि उर*

*आनी'* कहा है। यहाँ दोनों भाइयोंका प्रकट होना क्यों कहा?' उसका समाधान यह किया है कि 'रेफरूप श्रीरामजी, विन्दुरूप लषनलालजी और ध्वनिरूप भी दोनों एक ही अर्धमात्र प्रतीत होते हैं, वैसे ही यहाँ रूपकी प्रतीति। पुन: दूलहके साथ सहबाला भी जाता है पर बारातसे ले आना वा ले जाना दूलहहीके बारेमें कहा जाता है। अथवा 'प्रसन्नराघव' में श्रीकिशोरीजीके वचनोंसे जान पड़ता है कि लक्ष्मणजीपर उनका वात्सल्यभाव था इससे उनका भी प्रकट होना कहा।' (ग) यहाँ दोनों भाई साथ हैं और साथ लताकुञ्जसे निकले हैं तथा सखियोंकी दृष्टि दोनों राजकुमारोंपर है अत: दो चन्द्रमा कहे गये। (घ) इनको लेकर तीन चन्द्रमा वाटिकामें उदित हैं जिससे फुलवारी तेजोमय हो गयी। (वि० त्रि०)

टिप्पणी—२ *'बिमल बिधु'* इति। इनको 'बिमल' विधु कहनेका भाव कि प्राकृत चन्द्रमामें बहुत दोष हैं, इनमें कोई दोष नहीं हैं, ये निर्मल चन्द्र हैं। यहाँ 'बिधु' से शरद्-शशि अभिप्रेत है। *'सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥'* (२३२। ६) में जो पूर्व शरद्-शशि कहा था, वही प्रकट हुए।

नोट—३ *'जनु'''जलद पटल बिलगाइ'* इति। (क) शरद्-ऋतुके मेघ श्वेत रंगके होते हैं। लताभवनकी मेघसमूहसे उपमा देकर जनाया कि बहुत-सी पुष्पित श्वेत लताओंके मिलनेसे वह कुञ्ज बना था इसीसे कुञ्जका रंग श्वेतमेघका-सा था। (ख) 'लताभवनसे दोनों भाइयोंका प्रकट होना' यहाँ उत्प्रेक्षाका विषय है, यह पहले कह दिया गया, तब उत्प्रेक्षा की गयी। कवि अपनी कल्पनासे पाठकका ध्यान बलपूर्वक खींचकर मेघसमूहको फाड़कर दो चन्द्रमाओंके निकलनेके दृश्यकी ओर ले जाते हैं जिससे लताओंको चीरकर उनके बीचसे निकलनेकी छटाका अनुमान किया जा सके। अत: यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है। वीरकविजीका मत है कि यहाँ 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है क्योंकि दो चन्द्रमा साथ कभी नहीं उदय होते। (ग) उपमामें *'जलद पटल बिलगाइ'* कहा इससे उपमेयमें यह अर्थ निकलता है कि लताभवनको 'बिलगाकर' (चीरकर अलग करके) दोनों भाई निकले। (पं० रा० कु०) श्रीरामजी प्रेमके अधीन हैं। उनका स्वभाव है कि पहले ओटमें रहते हैं, अतिशय प्रेम देखकर हृदयमें प्रकट होते हैं (जैसे सुतीक्ष्णजीके प्रसङ्गमें) फिर नयनका विषय होते हैं, (वि० त्रि०), इससे शीघ्रताके विचारसे लताओंको फाड़कर प्रकट हो गये, रास्ता बाहर जानेका दूर था, उससे निकलनेमें देर होती; इसीलिये बनी हुई राहसे न निकले। अथवा (घ) 'जितनी देरमें कुञ्जके पार होकर आवेंगे उतनेमें कदाचित् श्रीजानकीजी और ही किसी ओरको चली जावें। अत: लताकुञ्जके द्वारसे न निकले, विह्वलताके मारे लताको चीरकर निकल पड़े। अथवा, प्रेमवश सखियोंको महत् खेद हुआ है। इससे बिना विलम्ब किये तत्काल कुञ्जसे न्यारे हो प्रत्यक्ष हो गये जिसमें अपना और जानकीजीका किञ्चित् भेद न खुले, गुप्त होना केवल लताके कुञ्जमें रहना मात्र प्रतीत हो।' (म० त० वि०)

नोट—४ श्रीगौड़जीका मत है कि सरकारके पक्षकी जो बातें *'तात जनक तनया यह सोई।'* से लेकर *'करत बतकही अनुज सन मन सिय रूप लोभान। मुख सरोज मकरंद छबि करत मधुप इव पान॥'* तक वर्णन की गयीं, वे सब घटनाक्रममें वस्तुत: 'लता भवन' से प्रकट होनेके बादकी हैं। यह 'श्रव्य' काव्य है। 'दृश्य' काव्य होता तो इसीके बाद दोनों पक्षका दृश्य साथ ही दिखाया जाता।

**सोभा सीव सुभग दोउ बीरा। नील पीत जलजाभ सरीरा॥ १॥**

अर्थ—दोनों वीर शोभाकी सीमा (हद) हैं अर्थात् इनसे बढ़कर किसीकी शोभा नहीं है और सुन्दर हैं। उनके शरीर नीले और पीले कमलकी आभा (कान्ति) के समान हैं॥ १॥

पं० रामकुमारजी—१ मानो दो निर्मल चन्द्रमा निकले, यह कहकर आगे 'सोभा सीव' कहनेका भाव यह है कि चन्द्रमाकी सुन्दरतामें गिनती है, यथा—*'कुँवर साँवरो री सजनी सुंदर सब अंग। रोम रोम छबि निहारि आलि बारि फेरि डारि, कोटि भानु सुवन शरद सोम कोटि अनंग॥'* (गी० २। १४) *'सुखमा सील सनेह सानि मनो रूप बिरंचि सँवारे। रोम रोम पर सोम काम सतकोटि वारि फेरि डारे॥'* (गी० १। ६६) २—पूर्व कह आये कि *'कहि न सकहिं कछु मन सकुचानीं',* सखियाँ सीताजीसे कुछ कह न सकीं।

***'सोभा सीव''*** इत्यादि वचन एक सखीके दूसरी सखीके प्रति हैं (जैसा आगेके ***'साँवर कुँवर सखी सुठि लोना'*** से स्पष्ट है)। ३—***'सोभा सीव'*** कहकर ***'सुभग दोउ बीरा'*** कहनेका भाव यह है कि जो अत्यन्त सुन्दर होते हैं, उनमें प्राय: वीरता नहीं होती, पर ये दोनों सुन्दर भी हैं और वीर भी। ४ ☞ श्रीरामजीकी श्यामताके लिये नील कमल, नीले मेघ, नील मणि, दूर्वादल इत्यादिकी उपमाएँ दी गयी हैं और लक्ष्मणजीके गौरवर्णके लिये सुवर्ण, पीत कमल, कुन्द इत्यादिकी उपमा देते हैं। तात्पर्य यह है कि जैसी उनकी श्यामता-गौरता है वैसी कहते नहीं बनती, इसीसे अनेक उपमाएँ देते हैं।

नोट—१ कुछ लोगोंने 'सोभा सीव' और 'सुभग' में पुनरुक्ति दोष मानकर उसका निवारण इस प्रकार किया है कि—(क) 'सोभा सीव' रामजी और 'सुभग' लक्ष्मणजी हैं। वा, (ख) ***'दोउ सुभग बीरा सोभा सीव हैं'*** ऐसा अन्वय कर लें 'सुभग' वीरका विशेषण है। वा, (ग) ***'सुभग'***=सुष्ठु ऐश्वर्यसे युक्त। (रा० प्र० वै०)

नोट—२ पाँड़ेजी लिखते हैं कि—'सुभग' 'सोभा' और 'बीरा' दोनोंके साथ है। 'सोभा' से शृङ्गाररस (प्रीति करनेमें) और 'बीरा' से वीररस जनाते हैं। ये दोनों रस सुभग अर्थात् ऐश्वर्यमान् होनेसे शान्तरसयुक्त हैं। 'सुभग' विशेषणसे जनाया कि इनकी शोभा और वीरता शृङ्गार और वीररसके विकारोंसे रहित है। शृङ्गारका विकार कटाक्षादि और वीरका प्रलापादिक हैं।' और पंजाबीजीका मत है कि 'सोभा' से भिन्न-भिन्न अङ्गोंकी पृथक्-पृथक् शोभा जनायी और 'सुभग' से 'समुच्चयकान्ति' सूचित की।

नोट—३ ***'सोभा सीव सुभग बीर'*** कहनेका भाव कि वीर तो स्वाभाविक ही हैं पर इस समय इनकी वीरता शृङ्गाररसमें है। (वै०) अथवा, वीर इससे कहा कि अपनी शोभासे सखियोंसहित श्रीजानकीजीके मनको इन्होंने विजय कर लिया है (रा० प्र०)।

प० प० प्र०—शृङ्गाररसका ही दर्शन प्रथम हुआ। धनुष-बाणादि नहीं हैं तथा सुभग वीररस भी उनके शरीरपर छा रहा है। इस रूपवर्णनमें उत्तरोत्तर वीररसका ओज बढ़ता है और ***'केहरि कटिपट पीतधर सुखमा सील निधान'*** में तो वीररस ही प्रधान है, पर अन्तमें 'सीलनिधान' में शान्तरस ही मुख्य है।

पाठान्तर—१७२१, १७६२, छ०, कोदोरामजी, पं० रामकुमारजी (भागवतदासजी), पाँड़ेजी इत्यादि कई महानुभावोंकी पुस्तकोंमें 'जलजात' पाठ है। सं० १६६१ की पोथीमें 'जलजाभ' पाठ स्पष्ट है। 'जलजाभ' लिखा गया था 'म' की ऊपरकी लकीरमें बीचमें हरताल दिया है। जिससे 'भ' स्पष्ट है।.'आभा' की उपमा अन्यत्र भी ग्रन्थमें मिलती है—'केकीकण्ठाभनीलं सुरवरविलसद्विप्रपादाब्जचिह्नम्', (मं० श्लो० १ उत्तरकाण्ड)। १७०४ में भी 'जलजाभ' है। (शं० ना० चौबेजी) पर रा० प० में 'जलजात' है। 'जलजात=कमल। 'जलजात' पाठसे भाव यह है कि वीरोंकी देह कठोर होती है, इनकी देह कठोर नहीं है वरंच कमलसमान कोमल है। (पं० रामकुमार) मिलान कीजिये—***'नील पीत नीरज कनक मर्कत घन दामिनि बरन तन रूपको निचोर हैं'*** अर्थात् जैसे कपड़ेको रंगमें डुबोकर निचोड़नेपर फीका रंग निचुड़ पड़ता है और औवल (उत्तम) रंग कपड़ेमें बना रहता है वैसे ही कमल आदिके रंग आपके रूपके निचोड़े हुए फीके रंग हैं।

**मोरपंख सिर सोहत नीके। गुच्छ बीच बिच कुसुमकली के॥ २॥**

अर्थ—सिरपर 'मोरपंख' भली प्रकार शोभित है। बीच-बीचमें पुष्पोंकी कलियोंके गुच्छे लगे हैं॥ २॥

टिप्पणी—१ जब नगर देखने गये तब सिरपर टोपी थी, यथा—***'रुचिर चौतनी सुभग सिर मेचक कुंचित केस।'*** जब धनुषयज्ञ देखने गये तब 'पीत चौतनी' टोपी दिये हुए थे। यथा—***'पीत चौतनी सिरन्हि सुहाई। कुसुम कली बिच बीच बनाई॥'*** और जब फूल लाने गये तब मोरपङ्खकी टोपी रही। इसीको गीतावलीमें 'टेपारे' कहते हैं; यथा—***'भोर फूल बीनबे को गए फुलवाइ हैं। सीसन्ह टेपारे उपबीत पीतपट कटिदोना बाम करन सलोने भे सवाई हैं॥'*** यहाँ कुसुमकलीके गुच्छे कहते हैं। मोरपङ्ख कुछ ऊँचा है इसीसे उसकी बराबरीके लिये गुच्छे लगाये, कली लगाते तो न देख पड़ती उसमें बूड़ जाती। कपड़ेकी टोपीमें कुसुमकली लगी हैं जैसे धनुषयज्ञके समय टोपीमें ***'कुसुम कली बिच बीच सुहाई'*** कहा है। ☞ तीन जगह तीन प्रकारकी टोपी देकर जानेका भाव यह है कि नगर देखने गये थे, इसीसे कामदार टोपी देकर गये, ***'रुचिर चौतनी सुभग***

*सिर।'* धनुषयज्ञ देखने गये तब पीत टोपी देकर गये क्योंकि पीतरंग वीरोंका बाना है, वहाँ वीरता दिखानेका समय था। फुलवारीमें देव-कार्यसे गये, इसीसे पीताम्बर और मोरपङ्खकी टोपी धारण की, बिना धोया हुआ कपड़ा नहीं धारण किया। कपड़ेकी टोपियाँ कामदार सब बिना धुली हुई थीं।

नोट—१ सं० १६६१की पोथीमें 'मोरपंख' पाठ स्पष्ट है, हरताल आदि भी नहीं है और न हाशियेहीपर कोई दूसरा पाठ है। पाँड़ेजी और कोदोरामजीकी छपी पुस्तकोंमें 'काकपक्ष' पाठ है। बैजनाथजीने कोदोरामजीकी पुस्तकका पाठ लिया है। पर श्रीजानकीशरणजी जिन्होंने असली पोथी देखी है वे कहते हैं कि कोदोरामजीकी हस्तलिखित पोथीमें 'मोरपंख' पाठ है। कुछ लोग 'काकपक्ष' को इससे शुद्ध मानते हैं कि मोरका पक्ष तो श्रीकृष्णजीके ध्यानमें है न कि रामजीके ध्यानमें। ऐसा जान पड़ता है कि 'मोरपंख' का ठीक अर्थ न लगा सकनेके अथवा उपासनाकी अनन्यताके कारण पाठ बदल दिया गया हो। प्राचीन पाठ 'मोरपंख' ही मिलता है। सं० १७०४, १७२१ और १७६२ में भी 'मोरपंख' पाठ है।—गीतावलीमें मोरपङ्खका और भी वर्णन आया है; यथा—*'सिरन्हि सिखंड सुमनदल मंडन बाल सुभाय बनाए'* (५४) शिखण्डका अर्थ मोरकी पूँछ है। (श० सा०) अर्थ लोगोंने भिन्न-भिन्न लिखे हैं—१ मोरपङ्खी टोपी जो आगे-पीछे कम चौड़ी होती है। बीचमें ज्यादा चौड़ी और लम्बी होती है। २—मोरका पङ्ख। परंतु पंजाबीजी लिखते हैं कि 'सिरपर मोरके पङ्ख शोभित हैं और बीच-बीचमें फूलोंकी कलियोंके गुच्छे लगे हैं' ऐसा अर्थ करनेमें यह दोष आता है कि मोरपङ्ख-संयुक्त ध्यान श्रीरामचन्द्रजीका कहीं नहीं पाया जाता। दूसरे, इस अर्थसे सिर नंगा पाया जाता है। ३—सन्त उन्मनी टीकाकार लिखते हैं कि—'श्रीकिशोरीजीके प्रेमकी उत्तम दशाको देख यहाँ नित्य रास-रहस्यके उपवनविहारकी अकृत्रिम अद्भुत ऐश्वर्यकी झाँकी प्रकट की है। इस एकान्त स्थानके अतिरिक्त कहीं ऐसी झाँकी महाराजकी नहीं पायी जाती। 'प्रसन्नराघव' नाटकमें पुष्पवाटिका-विहारमें सखीके वचन हैं—'**अत्र ते सखि शिखण्डमण्डने पुण्डरीकरमणीयलोचने**' एवं '**क्रीडाशिखण्डकधरेण सलक्ष्मणेन**।' पुनः, रङ्गभूमिमें भी कहा है कि *'कुसुम कली बिच बीच बनाई।'* इससे सिद्ध होता है कि कमरखी मणिजटित ताज है जिसमें झब्बा ऐसा बनता है कि मालूम होता है कि चारों ओर कुसुमकली है, उसके बीचका जो काम है वह मोरचन्द्रिका है।'

रा० प्र० कार लिखते हैं कि इस प्रकरणमें दोनों भाई समयानुसार तीनों अवसरोंपर तीन प्रकारकी टोपियाँ पहिने हैं। नगरदर्शनसमय लाल चमकदार, रङ्गभूमिमें पीली और यहाँ मोरपङ्खी हरे रङ्गकी, क्योंकि फुलवारीमें हरे रङ्गकी प्रधानता है।

वि० त्रिपाठीजी लिखते हैं कि इस समय फूल लेने आये हैं, अतः स्वाभाविक वेषमें हैं। चौतनीसे भी अधिक शोभा है। यह विच्छित्तिहाव है। किञ्चित् शृङ्गारसे मोहित करनेको विच्छित्तिहाव कहते हैं। इसी झाँकीको कृष्णावतारमें दिखलाकर व्रजवनिताओंको मोहित करेंगे।

'काकपक्ष' भी गीतावलीमें आया है—*'मेचक पीत कमल कोमल कल काकपक्षधर वारे। सोभा सकल सकेलि मदन बिधि सुकर सरोज सँवारे॥'* (१। ५८) परंतु फुलवारी और रङ्गभूमिके समय वहाँ भी टोपीहीका ध्यान वर्णित है।—*'सीसनि टिपारे'* एवं *'राजिवनयन बिधुबदन टिपारे सिर नखसिख अंगनि ठगौरी ठौर ठौर हैं।'* (गी० १। ६९। ७१) काकपक्ष जुल्फीको कहते हैं। इस पाठसे नंगे सिर होना पाया जाता है। पुनः, इससे आगे पुनरुक्ति जान पड़ती है, क्योंकि आगे कहते हैं कि *'बिकट भृकुटि कच घूँघरवारे।'* इस पाठके पक्षपाती पुनरुक्तिकी निवृत्ति यों करते हैं कि सिरके ऊपर जो सचिक्कन पट्टे होते हैं और बिखरे हुए बाल जो माथे और गलेतक फैले हुए हैं वे घुँघराले बाल हैं।

प्राचीनतम एवं प्रायः सभी प्रामाणिक पोथियोंमें 'मोरपंख' पाठ होनेसे हमने उसीको लिया है। प्रसन्नराघवनाटकमें भी वाटिकामें भी '**शिखण्डिपिच्छमण्डितकर्णपूरो**' शब्द आये हैं अर्थात् जिनके कर्णपूर मोरपङ्खसे शोभित हैं।

गीतावलीमें जनकपुरमें आगमनके समयसे धनुषयज्ञतकमें कई बार रूपका वर्णन हुआ है। उनमें

*'चौतनी सिरनि'* (१। ६०) *'चौतनी चारु अति'* (१। ६१) *'काक सिखा सिर'* (१। ६४), *'भोर फूल बीनबेको गए फुलवाई हैं। सीसनि टिपारे उपबीत पीतपट कटि दोनों बाम करनि सलोने भे सवाई हैं॥'* (१। ६९) और धनुषयज्ञमें भी *'टिपारे सिर'* (१। ७१) कहा गया है। 'टिपारे' का अर्थ हिन्दी श० सा० में इस प्रकार दिया है—'[हिं० तीन+फा० पार=टुकड़ा] मुकुटके आकारकी एक टोपी जिसमें कलगीकी तरह तीन शाखाएँ निकली रहती हैं, एक सिरेपर, दो बगलमें। मानसमें 'टिपारे' की जगह फुलवारी प्रकरणमें 'मोरपंख' है। इसीसे सम्भव है कि 'टिपारा' और 'मोरपंख' पर्याय शब्द हों।

जो 'काकपक्ष' को प्राचीन और शुद्ध मानें वे निम्न अर्थोंमेंसे जो रुचिकर समझें वह अर्थ ले सकते हैं—१जुल्फ। २—कामदार टोपी दोपलिया जो दोनों तरफ मगजीमें बढ़ी हुई होती है। ३—काक (सर्पिणी)=पक्ष (=केश)=नागिनके-से केश।—(मा० त० वि०) ४—कौएके पङ्खके आकारके पट्टे काले चमकदार। —(बैजनाथ) [श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि 'मैं भी बैजनाथजीके अर्थसे सहमत हूँ। कारण कि मोरपङ्खका शृङ्गार अधिकतर कृष्णजीका है। दूसरे, टोपीसे यह शृङ्गार समयके अधिक अनुकूल है। वहीं निकट ही ठहरे थे और सबेरे गुरुकी पूजाके हेतु फूल लेने चले आये थे। तीसरे *'बिच बिच गुच्छा कुसुमकली'* के साथ मिलकर इस शृङ्गारमें सजीवता और सरलता बहुत है। बागमें जो गुच्छा कलियोंका पसन्द आया उसीको यौवनके उभारकी सरसतामें जुल्फोंमें गूँथ लिया, जैसे हम बटनहोलमें फूल या कली लगा लेते हैं। चौथे शृङ्गारके माधुर्यका उभार स्वाभाविक हो जाता है, मानो सुन्दरताकी परखका अंश विकसित हो गया)। ५—बालोंके पट्टे जो दोनों ओर कानों और कनपटियोंके ऊपर रहते हैं। (श० सा०)

नोट—२ *'गुच्छ बीच बिच'* १६६१ का पाठ है। १७२१, १७६२ और १७०४ में भी यही पाठ है। पाठान्तर—*'गुच्छा बिच बिच'*, *'गुच्छे बिच बिच'* हैं। टोपी पहने होना अर्थ करनेमें *'गुच्छ बीच···'* का भाव होगा कि ये कलियाँ रेशम और सुनहले रुपहले तार आदिकी हैं जो टोपीपर कढ़ी हुई हैं। और नंगे सिर होनेमें केशोंमें कुसुमकलीके गुच्छे अथवा मोरपङ्खके बीच-बीचमें कुसुमकलीके गुच्छे लगे हैं यह भाव होगा।

**भाल तिलक श्रमबिंदु सुहाए। श्रवन सुभग भूषन छबि छाए॥ ३॥**

अर्थ—माथेपर तिलक और पसीनेकी बूँदें सुशोभित हैं। सुन्दर कानोंमें सुन्दर भूषणोंकी छबि छायी हुई है। अर्थात् कुण्डलोंकी कान्ति फैल रही है॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) स्नान करके आये हैं, इसीसे भालपर तिलक वर्णन करते हैं और श्रमबिन्दु कहते हैं। (तिलकरेखकी शोभा पूर्व नगर-दर्शन समय लिख आये हैं, यथा—*'तिलक रेख सोभा जनु चाँकी।'* (२१९। ८) इससे यहाँ इतना ही कहा)। एक तो शरद्-ऋतु है, दूसरे प्रात:काल, तीसरे फुलवारी निकट है, इतनी ही दूर आनेमें श्रमबिन्दु प्रकट हो गये—इससे सूचित कर रहे हैं कि दोनों भाई अत्यन्त सुकुमार हैं। [ (ख)*'सुहाए'* इति। छोटे-छोटे बूँद मोती-से झलक रहे हैं, अतएव 'सुहाए' कहा। श्रम कहाँ हुआ? आश्विनमासका घाम कड़ा होता है, उससे थकावट भी आती है। पुनः, लता चीरकर निकलना पड़ा उसमें परिश्रम हुआ और अत्यन्त सुकुमार कोमल नाजुक हैं। इससे दल-फूल उतारनेमें भी परिश्रम हुआ। पुनः, श्रीसीताजी प्रेमविवश हैं, सखियाँ भी चिन्तित हैं, उनके प्रेमसे आप भी बेबस हो गये, इससे श्रम हुआ। श्रीलमगोड़ाजी कहते हैं कि 'यद्यपि और भी कारण है तथापि मुख्य कारण श्रीसीताजीका प्रेम है। उनके प्रेमके कारण रगोंमें खूनकी दौड़ हो रही है, नहीं तो अभी सबेरेका समय है और फुलवारीका टहलना कोई विशेष श्रम न था। (मजा यह है कि सखियाँ सुकुमारताके कारण ही पसीनेको श्रमसे उत्पन्न समझती हैं) मैं इसको मुख्य कारण इससे समझता हूँ कि शामको (सन्ध्या समय) इसके विपरीत जब चन्द्रमाकी किरणें शीत उत्पन्न करेंगी तब रामचन्द्रजी चन्द्रमाकी निन्दा करते हुए उसे 'हिमकर' कहेंगे।' (ग) *'सुहाए'*—बैजनाथजी लिखते हैं कि श्रीकिशोरीजीका दर्शनरूप फल पानेसे श्रम सफल हुआ, इसीसे श्रमबिन्दु 'सुहाए' लगते हैं। (यह शृङ्गाररसका भाव है)। (घ) *'तिलक'* इति। श्रीमद्गोस्वामीजीने तिलकका पूरा वर्णन ग्रन्थभरमें कहीं नहीं किया। कारण कि वैष्णवोंमें

चार सम्प्रदाय हैं। चारोंमें दोनों ऊर्द्ध्व रेखाएँ अवश्य हैं, भेद केवल बीचके तिलकमें है। इस मतभेदके कारण उन्होंने 'तिलक' शब्दमात्र कहकर छोड़ दिया। गीतावलीमें भी प्राय: केवल ऊर्द्ध्वपुण्ड्रका ही वर्णन पाया जाता है। यथा—*'भाल बिसाल बिकट भृकुटी बिच तिलकरेख रुचि राजै। मनहु मदन तम तकि मरकतधनु युगल कनक सर साजै॥'*—(उ० पद १२)]

टिप्पणी—२ *'श्रवन सुभग भूषन छबि छाए'* इति। (क) श्रवण सुभग हैं अर्थात् स्वयं सुन्दर हैं, कुछ आभूषणोंकी सुन्दरतासे सुन्दर नहीं हुए, वस्त्राभूषणके त्याग देनेपर उनकी और भी अधिक शोभा होती है; यथा —*'कागर कीर ज्यों भूषन चीर सरीर लस्यौ तज्यौ नीर ज्यों काई'* (कवित्तरामायण २। १) (क) यहाँ आभूषणोंके नाम नहीं लेते, क्योंकि प्रथम नगर-दर्शनमें लिख चुके हैं; यथा—*'कानन्हि कनकफूल छबि देहीं।'* (ग) *'छबि छाए'* का भाव कि मानो मूर्तिमान् छबिने यहाँ छावनी डाल दी है। यहाँ आकर ठहर गयी है। शोभा छा रही है।

नोट—☞इस दोहेभरमें सखीका संवाद है, कवि या वक्ताओंका नहीं, क्योंकि कविके लिये *'सखी'* शब्दसे सम्बोधन नहीं सम्भव हो सकता, जैसा संवादके अन्तमें दिया गया है—*'साँवर कुँअर सखी सुठि लोना।'* सखीका संवाद सखीके प्रति साभिप्राय है। श्रीजानकीजीने तो अपना ध्यान सखियोंसे छिपाया, फिर भी सखियाँ जान गयीं, पर उनके संकोचके कारण कुछ कह न सकीं। ध्यान क्योंकर छूटे? उसीका प्रयत्न कर रही हैं कि आपसमें ध्यानका, श्रीरामजीके स्वरूपका वर्णन करने लगीं कि वे सुनकर आँख खोलकर रूप देखने लगें। पर जब इस यत्नसे भी सफलता प्राप्त न हुई, ध्यान न छूटा तब दूसरी सखीने हाथ पकड़कर ध्यान छुड़ाया।

**बिकट भृकुटि कच घूघरवारे। नवसरोज लोचन रतनारे॥ ४॥**
**चारु चिबुक नासिका कपोला। हास बिलास लेत मनु मोला॥ ५॥**

शब्दार्थ—घूघरवारे=घुँघराले। रतनारे=लाल। बिलास=विशेष शोभा, फबनि।

अर्थ—टेढ़ी भौंहें; घुँघराले बाल और नये खिले हुए लाल कमलके समान लाल-लाल नेत्र हैं॥ ४॥ ठोढ़ी, नाक और गाल बड़े सुन्दर हैं। मुसकानकी विशेष शोभा (तो मानो) मनको मोल ही लिये लेती है। अर्थात् अत्यन्त सुन्दर है॥ ५॥

लमगोड़ाजी—देखिये, पहले नेत्र श्वेतकमल-से थे, शृङ्गारके माधुर्यने लाली उत्पन्न कर दी।

टिप्पणी—१ (क) *'बिकट भृकुटि'* अर्थात् धनुषाकार हैं, यथा—*'भृकुटि मनोज चाप छबिहारी॥'* [श्रीसीतारामजीकी भ्रू कानपर्यन्त लम्बी कही जाती है और बहुत ही टेढ़ी। दोहावलीके १८७ वें दोहेसे जान पड़ता है कि इतनी टेढ़ी हैं कि जितनी मनुष्यकी क्रोधमें हो जाती है; यथा—*'मुकुर निरखि मुख राम भ्रू गनत गुनहि दै दोष। तुलसीसे सठ सेवकन्हि लखि जनि परहि सरोष॥'* धनुषके समान टेढ़ी सर्वत्र कही गयी है। पुन: यथा—**'प्रात: स्मरामि रघुनाथमुखारविन्दं''कर्णान्तदीर्घनयनं नयनाभिरामम्॥'** **'आकर्णाकर्ण विशालनेत्रे''।'**(हनु० १०। ७) (ख) *'कच घूघरवारे'* अर्थात् मरोड़दार (कुंचित) हैं। ये घुँघराले बाल कपोलोंके ऊपर आये हैं इसीसे कपोलोंके समीप केशका वर्णन किया; यथा—*'घुँघरारी लटैं लटकैं मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की।'* आगे कपोलका वर्णन करते हैं। (ग) *'नवसरोज लोचन रतनारे'* अर्थात् अत्यन्त सुन्दर हैं, कृपायुक्त हैं। ☞जहाँ कृपादृष्टिका प्रयोजन होता है वहाँ नेत्रको कमल विशेषण देते हैं। यथा—*'राजिवनयन धरे धनुसायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक॥'* *'देखी राम सकल कपि सैना। चितइ कृपा करि राजिव नैना॥'* [(घ) पांड़ेजी दूसरा अर्थ यह भी कहते हैं कि 'रतनारे कमलनयन (नीचेको) नये हुए हैं, अर्थात् मर्यादा-अनुसार श्रीजानकीजी सखियोंके निकट होनेसे दृष्टि नीचे किये हुए हैं।' राजकुमारोंको निर्मल चन्द्रमा कह आये हैं—*'निकसे जनु जुग बिमल बिधु जलद पटल बिलगाइ'* और कमल चन्द्रमाके सामने संकुचित हो जाता है ही, अतः यह भाव कहा गया। शृङ्गाररसके रसिक यह

भाव भी कहते हैं कि *'सियमुख शशि'* के सामने नेत्रकमल पड़नेके कारण 'नव' पद दिया गया। पाँड़ेजी यह भी अर्थ करते हैं कि 'सामान्य कमलकी शोभाको इस लोचनकमलने जीतकर पुराना कर दिया।' अर्थात् इनके नेत्रोंके आगे लालकमल भी 'नये' (लज्जित वा नम्र) हो जाते हैं। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि आँखको गुलाबी नये कमलकी भाँति कहनेका भाव कि प्रथम कैशोर है, किशोरावस्थाका प्रारम्भ है। इस अवस्थामें नेत्रके कोणमें लालिमा आ जाती है। यथा—'**वर्णस्योज्ज्वलता कापि नेत्रान्ते चारुणच्छविः।**' *रोमावलिप्रकटता कैशोरे प्रथमे सति।*']

टिप्पणी—२ *'चारु चिबुक नासिका कपोला।'''* इति। [(क) नासिका शुकतुण्ड-सी, कपोल दर्पण-सा, जिसमें चलकुण्डलकी झलक पड़ रही हो। प्रेमवश देखकर अनुग्रह हुआ, हँसते हुए लता-भवनसे निकले। (वि० त्रि०) (ख) भगवान्‌की 'हँसी माया कही गयी है। यथा—*'माया हास बाहु दिगपाला।'* और माया मनको मोहती ही है, इसीसे मनको मोल लेना कहा। मोल लेनेका भाव यह है कि जो चीज मोल ले ली जाती है उसका अपना अधिकार कुछ नहीं रह जाता, वह परतन्त्र हो जाती है, इसी तरह जिसकी दृष्टि आपकी मुस्कानपर पड़ी या जिसकी ओर किञ्चित् भी मुस्कुराकर आप देख देते हैं, उसका मन उसके वशमें नहीं रह जाता, वह आपका ही हो रहता है, आपके हाथ (बिना मोल) बिक जाता है, फिर उसका मन कहीं अन्यत्र नहीं जाता। (ग) *'हास बिलास'* पदसे पाया जाता है कि दोनों भाई हँस-हँसकर कुछ बातें करते हैं। [इनकी हँसी मनकी पूरी कीमत है। यह विलास नामक हाव है। संयोग समय कटाक्षादि अनेक क्रियाओंसे मोहित करनेको विलास हाव कहते हैं। (वि० त्रि०) यहाँ गम्योत्प्रेक्षा है, क्योंकि यहाँ बिना वाचक पदके उत्प्रेक्षा की गयी है। (वीरकवि)]

**मुख छबि कहि न जाइ मोहि पाहीं। जो बिलोकि बहु काम लजाहीं॥ ६॥**
**उर मनि-माल कंबु कल गीवा। काम कलभ कर भुज बलसीवा॥ ७॥**
**सुमन समेत बाम कर दोना। साँवर कुँअर सखी सुठि लोना॥ ८॥**

शब्दार्थ—**गीवा** (ग्रीव)=कण्ठ। **कलभ**=हाथीका बच्चा। **कर**=सूँड़। **'लोना'** (बुन्देलखण्डी बोली है)=सुन्दर।

अर्थ—मुखकी छबि मुझसे नहीं कही जाती, जिसे देखकर बहुत-से कामदेव लज्जित हो जाते हैं॥ ६॥ वक्षःस्थल हृदय (देश) पर मणियोंकी माला है, शङ्खके समान (त्रिरेखायुक्त पुष्ट सचिक्कन) सुन्दर ग्रीवा है। कामदेवरूपी हाथीके बच्चेकी सूँड़के समान भुजाएँ बलकी सीमा हैं॥ ७॥ बायें हाथोंमें फूलोंसहित दोना है। हे सखी! साँवला राजकुँवर तो अत्यन्त ही सलोना है॥ ८॥

नोट—१ *'मुख छबि कहि न जाइ मोहि पाहीं।'''* इति। भाव कि—(क) 'उपमा देकर छबि कही जाती है सो कोई उपमा देते नहीं बनती। उपमा सुन्दर वस्तुकी दी जाती है और काम सुन्दर है उसकी उपमा क्यों नहीं देते? कारण कि उसकी उपमा दें तो वह तो आप ही मुख देखकर लज्जित हो जाता है तब कामकी उपमा कैसे देते बने? (पं० रामकुमारजी) (ख) उपमाके लिये अनेक कामदेवोंको एकत्र किया तो भी वे सब मिलकर भी समताके योग्य न ठहरे तब और कौन है जिसकी उपमा दें? (वै०) पाँड़ेजी *'बहु काम लजाहीं'* के और भाव यह लिखते हैं कि 'कवियोंकी 'कहन' (कहनेकी) कामना लज्जित हो जाती है।' अथवा 'राजपुत्रीके साथकी सखियोंकी कामना लज्जित हो जाती है। कामनाका लज्जित होना यह कि उनकी ओर ये कटाक्ष नहीं करते और अन्य पुरुषपर दृष्टि न डालना यह जो उनकी शूरता थी सो भी पराजित हो सफलताको न प्राप्त हुई।' बाबू श्यामसुन्दरदासजी लिखते हैं कि 'बहुकाम' नाम स्त्रियोंका भी है, क्योंकि उनमें पुरुषोंसे अठगुना काम कहा जाता है। वे मदमाती स्त्रियाँ भी इस छबिको देखकर लजा जाती हैं।' (ग) उपमेयकी समतामें उपमानका लज्जित होना 'चतुर्थ वा पञ्चम प्रतीप अलंकार' है।

नोट—२ (क) *'उर मनि-माल'* इति। पूर्व कह आये हैं कि *'उर अति रुचिर नाग-मनि-माला'* इसीसे

यहाँ दुबारा मणिका नाम न दिया। यहाँ भी गजमुक्ता, सर्पमणि और माणिक्य तीनोंहीकी माला समझना चाहिये। (माला पहने हुए रहनेका विधान है, अतएव मणिकी माला पहने हुए हैं। (वि० त्रि०) (ख) *'कंबु कल गीवा'* इति। यथा—*'रेखें रुचिर कंबु कुल गीवाँ। जनु त्रिभुवन सुखमा की सीवाँ॥'* (१। २४३। ८) रा० प्र० कार लिखते हैं कि त्रिरेखायुक्त होनेका भाव यह है कि तीनों लोकोंका शृङ्गार हारकर गले पड़ा है। (ग) *'काम कलभ कर भुज बलसीवा'* इति। भाव कि श्रीरामजीकी भुजाकी उपमा तब कुछ हो सके जब कामदेव स्वयं हाथीका वेष बनावे; यथा—*'जनु बाजि बेष बनाइ मनसिज राम हित अति सोहई।'* (पं० रामकुमारजी) वीरकविजी लिखते हैं कि कामदेवरूपी हाथीकी सूँड़ उत्कर्षका कारण नहीं है, क्योंकि हाथीकी सूँड़ उतार-चढ़ावकी होती है, यहाँ उपमासे केवल इतना ही तात्पर्य है तो भी *'काम कलभ कर'* की कल्पना करना 'प्रौढ़ोक्ति' है।

टिप्पणी—१ *'सुमन समेत बाम कर दोना'* इति। दोना मालियोंने बनाकर दिया है, फूल अपने ही हाथसे तोड़ना चाहिये, इससे फूल स्वयं तोड़ रहे हैं। वाम हाथमें दोना है, दाहिना हाथ फूल तोड़नेके लिये खाली है। दोना दोनों भाइयोंके हाथमें है, यथा—*'सीसन टिपारे उपबीत पीत पट कटि, दोना बाम करनि सलोने भे सवाई हैं॥'* (गी० १। ७१) २—*'सुठि लोना'* यथा—*'चारिउँ रूप सील गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा॥'* वाम करमें दोना कहकर सुन्दरता कहनेका भाव कि दोना हाथमें लेनेसे अधिक सुन्दर हो गये हैं—*'दोना बाम करनि सलोने भे सवाई हैं।'*

नोट—३ रसिक महानुभाव यह अर्थ करते हैं कि 'सुन्दर भावुक मनवाली स्त्रियोंके हाथका दोना यह साँवला कुँवर है। अर्थात् ऐसी स्त्रियाँ इन्हें देखकर मुग्ध हो जाती हैं, इनके वश हो जाती हैं।

पाँड़ेजी लिखते हैं कि सुमन (अच्छे सुन्दर मनवाली) बाम (स्त्रियों) के सुन्दर मनको दोनेमें लिये हैं। अर्थात् जिन सुन्दरियोंने अपना भावुक मन दिया है उनके मनोंका अनादर कर रहे हैं कि एक तो पत्तेके दोनेमें और वह भी बायें हाथमें लिये हैं। तब वे मनको देती ही क्यों हैं? इसका उत्तर यह है कि विशेष सुन्दरताका ऐसा ही जाल है कि उसमें उनका मन अवश्य ही फँस जाता है।

नोट—४ किसी-किसीका मत है कि *'साँवर गौर सखी सुठि लोना'* पाठ होना चाहिये था क्योंकि ऊपरसे दोनों कुँवरोंका वर्णन चला आ रहा है। गोस्वामीजी प्रेममें मग्न हो *'साँवर कुँवर'* लिख गये अथवा सखी ही प्रेममें भूल गयी। वस्तुतः *'सुठि लोना'* कहकर जनाया कि गौर कुँअर भी 'लोना' है पर यह *'सुठि लोना'* है। लमगोड़ाजीकी बात भी यथार्थ है कि आखिर साँवले कुँवरको इन्होंने भी चुना। (बालक लोगोंने भी शोभा देखी और *'लगे संग लोचन मन लोभा'* उनके मन भी लुब्ध हुए पर सुन्दरताकी इस बारीकीतक वे नहीं पहुँच सके कि दोनों कुँअरोंमें एकको भी *'सुठि लोना'* कह सके। वि० त्रि०)

## दो०—केहरि कटि पट पीत धर सुखमा सील निधान।
## देखि भानुकुलभूषनहि बिसरा सखिन्ह अपान॥ २३३॥

अर्थ—सिंहकी-सी (पतली) कमर है, पीताम्बर धारण किये हुए हैं, परम शोभा और शीलके निधान (स्थान, समुद्र, खजाना) हैं, सूर्यकुलके भूषण-(श्रीरघुनाथजी-) को देखकर सखियोंको अपनी सुध-बुध भूल गयी॥ २३३॥

नोट—१ *'केहरि कटि'* इति। (क) इस प्रकरणका आरम्भ शृङ्गाररसमें है, जो *'मोरपंख सिर सोहत नीके।'* (२३३। २) से उठाया गया है और उसका विश्राम यहाँ *'केहरि कटि'* वीररसपर किया गया है। इस समय कारणवश ऐसा किया गया, इसीकी अब आवश्यकता आ पड़ी है। इस दोहेसे वीररसका आरम्भ हुआ और आगे यही रस प्रधान रहेगा। (पां०) (ख) सिरसे ध्यानका प्रारम्भ करके कटितक ही ध्यानका वर्णन करना शृंगाररसमें ही होता है। केवल मुखका ध्यान वात्सल्यरसमें प्रधान है और पदका ध्यान दास्यरसमें प्रधान है। यहाँ शृङ्गाररसके प्राबल्यसे कटितकका

ध्यान कहा गया, उसके नीचेका नहीं। (रा० प्र०) त्रिपाठीजीका मत है कि *'सुखमा सील निधान'* कहते-कहते रुक गयी, चरणोंकी शोभा न कह सकी, अपनेको ही भूल गयी, यही दशा सुननेवालियोंकी हुई। अथवा; फूलकी कियारीमें हैं, कटिसे नीचेके भागका दर्शन नहीं हुआ, इसलिये वर्णन नहीं किया।

नोट—२ *'पट पीत धर'* इति। वीरस्वरूप कहकर वीरवेष भी कहा। केसरिया बाना वीरोंका है, यथा—**'पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः'**) (भागवते) (रा० च० मिश्रजी) [पर भगवान्के ध्यानमें प्रायः सर्वत्र पीताम्बरहीका वर्णन पाया जाता है।]

टिप्पणी—१ *'सुखमा सील निधान'* इति। *'सील निधान'* कहनेका भाव कि समस्त गुण मनुष्यमें हों, सुन्दरता भी हो पर यदि शील न हो तो शोभा नहीं है, इसीसे शोभा (सुखमा) निधान कहकर शीलके निधान कहा। **'शीलं परं भूषणम्।'** [शीलसे शोभामें विशेषता आ जाती है। इसीसे प्रायः शोभाके साथ शील गुण भी कहा गया है। यथा—*'रूप सील निधि तेज बिसाला।'* (७६। ५) *'सोभा सील ग्यान गुन मंदिर'* (विनय० ८५) *'रामु लखनु दोउ बंधु बर रूप सील बल धाम।'* (२१६) शोभा और शील दोनों भाइयोंके शरीरोंमें दर्शित हो रहे हैं।

टिप्पणी—२ *'देखि भानुकुलभूषनहि'* इति। भानुकुलभूषणका भाव कि श्रीरामजीको देखकर सखियाँ मोहित हो गयीं पर श्रीरामजी सखियोंको देखकर न मोहित हुए। (ये उनकी ओर देखते भी नहीं) भानुवंशी कभी परस्त्रीपर दृष्टि नहीं डालते, यथा—*'रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मनु कुपंथ पगु धरइ न काऊ॥'* (२३१। ५) और श्रीरामजी तो स्वप्नमें भी कभी परस्त्रीकी ओर नहीं देखते, यथा—*'मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहिं सपनेहुँ परनारि न हेरी॥'* (२३१। ६) अतएव *'भानुकुलभूषन'* कहा। (यह रघुकुलवीरोंका स्वभाव, शील भानुके प्रकाशवत् सिद्ध हुआ। यह सहज स्वभाव भानुकुलका भूषण' है और श्रीरामजी तो इस भूषणके भी भूषण हैं तब उपर्युक्त सब वचन क्यों न चरितार्थ होंगे। प० प० प्र०)

नोट—३ (क) *'बिसरा सखिन्ह अपान'* इति। अर्थात् एकटक देखती रह गयीं, जैसा मनु-शतरूपाजीके प्रसङ्गमें कहा है। यथा—*'छबिसमुद्र हरि रूप बिलोकी। एकटक रहे नयन पट रोकी॥ चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा॥ हरष बिबस तन दसा भुलानी।'* (१४८। ५—७) यही हाल सब सखियोंका हुआ। वे देहकी सुध भूल गयीं, उनको कुछ भी सुध नहीं है कि वे कौन हैं, कहाँसे और किस लिये आयी हैं इत्यादि। यथा—*'तुलसिदास यह सुधि नहि कौन की कहाँ ते आई, कौन काज काके ढिग कौन ठाँउ को हैं॥'* (गी० ७। ४) यही अपनेको भूलना है। (श्रीसीताजीकी देह *'भै भोरी'* यह पूर्व कह आये। अब सखियोंकी भी वही दशा हुई।) (ख) प्रश्न—जब प्रथम देखा था तब देहकी सुध क्यों न भूली थी? उत्तर—(१) क्योंकि पहले प्रभुको लताकी ओटमें देखा था, यथा—*'लता ओट तब सखिन्ह लखाए। स्यामल गौर किसोर सुहाए॥'* (२३२। ३) लताकी ओटके कारण भली प्रकार शोभा देखनेमें न आयी थी। अब वे लताभवनसे प्रत्यक्ष प्रकट हो गये तब साङ्गोपाङ्ग शोभा देख पड़ी, इसीसे देह-सुध भूल गयी। यथा—*'जाइ समीप राम छबि देखी। रहि जनु कुअँरि चित्र अवरेखी॥'* (२६४। ४) तथा यहाँ सखियोंकी दशा हुई। अथवा, (२) यह प्रभुके स्वरूपका अद्भुत प्रभाव ही है। प्रथम यथार्थ स्वरूपका बोध न हुआ था, जब देखा कि ये भानुकुलके भूषण हैं अर्थात् **'भानुकोटिप्रतीकाशं कुण्डलादिश्रुतिद्वयम्। प्रवृत्तारुणसंकाशं किरीटेन विराजितम्॥'** हैं तब बेसुध हो गयीं। अथवा, (३) अपनी सुषमाका गर्व मिट गया। (मा० त० वि०) (ग) पांडेजी लिखते हैं कि अपना आपा भूलनेका कारण यह है कि सखियोंने जितना सुना था उससे कहीं अधिक शोभा राजपुत्रोंकी देखी। अथवा, अपने रूप और शोभाके सम्पूर्ण ऐश्वर्यके गुमानको भूल गयीं। (पाँ०) (घ) *'अपान बिसरा'* से जड़ता संचारी भाव कहा। जब इष्ट या अनिष्ट सुनने या देखनेसे कोई बोध नहीं होता तो उसे जाड्य-सञ्चारी कहते हैं।

टिप्पणी—३ नगर-दर्शनमें धनुष-बाणका भी वर्णन है, यथा *'पीतबसन परिकर कटि भाथा। चारु चाप सर सोहत हाथा॥'* (२१९। ३) और जब स्वयंवर देखने गये तब भी धनुष-बाण धारण किये थे।

यथा—'*कटि तूनीर पीत पट बाँधे। कर सर धनुष बाम बर काँधे।*' (२४४। १) पर यहाँ धनुष-बाणका उल्लेख नहीं है। कारण कि शास्त्राज्ञा है कि शस्त्रास्त्र धारणकर देवताके लिये पुष्प न उतारे (तोड़े)। इसीसे फुलवारीमें शस्त्रास्त्र धारण करके नहीं आये।

नोट—४ श्रीगौड़जी लिखते हैं कि—'ध्यानसे जगानेको एक चतुर सखी उस समयकी भगवान्‌की शोभाका वर्णन करती हुई सुनाती है कि सीताजी उस ध्यानको छोड़कर प्रत्यक्ष दर्शनमें लगें, परंतु मन सरकारमें है, तन सरकारके समक्ष है, वचन उन्हींकी शोभाका वर्णन करनेमें लगा है। उद्देश्य सखियोंका कुछ भी रहा हो पर इस तरह तन-मन-वचनकी एकाग्रतासे तन्मयता आ गयी। अपनी ही सुध-बुध भूल गयीं। '*चौबे गये छब्बे बननेको दूबे बनके आये।*' उस समय सबमें चतुर एक सखीने धैर्य धारण किया। अपनेको सँभाला और अपने कर्तव्यपालनकी ओर बड़ी ढिठायीसे झुकी। हाथ पकड़कर किशोरीजीसे बोल ही बैठी। उन्हें संकोचमें आकर आँखें खोलनी ही पड़ीं।'

श्रीराजा रामशरणजी कहते हैं कि 'मैं भी गौड़जीसे सहमत हूँ। हाँ, एक सुकुमारता और विचारणीय है, सभी आँखें खुलानेके लिये नख-शिखका वर्णन करती हैं, परंतु वहाँ सीताजी सरकारकी आन्तरिक मूर्तिसे उस वर्णनको मिलाती हैं तथा और भी ध्यानमें मग्न होती जाती हैं। कहीं-कहीं इस चित्रको पूर्ण कर रही होंगी, कारण कि आँखें जल्द बन्द हो गयी थीं, अब सखियोंके वर्णनसे सहायता मिली। मजा यह है कि आँखें खुलनेके बदले और भी बन्द हो गयीं। 'मरज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की' यही लुत्फ है। विश्वसाहित्यमें रामचरितमानस (हास्यरस) वाली पुस्तकमें मैंने इसे 'प्रेमकी सनक' कहा है और इस समय सीताजी 'सनकी' चरित्रका उदाहरण बनी हैं।

प० प० प्र०—ध्यानमें रखनेकी बात है कि सखियोंने भी युगलकिशोरोंकी नर-नारी मोहक छबि देख ली फिर भी इनमेंसे कोई भी इस रूपपर श्रीसीताजीके समान आसक्त नहीं हुई। इस प्रकार यहाँ '*पुर''नारि''सुचि संता। धरमसील ग्यानी गुनवंता॥*' यह वाक्य चरितार्थ हुआ।

**धरि धीरजु एक आलि* सयानी। सीता सन बोली गहि पानी॥ १॥**
**बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू। भूपकिसोर देखि किन लेहू॥ २॥**

अर्थ—एक सयानी सखी धीरज धरकर हाथ पकड़कर श्रीसीताजीसे बोली—॥ १॥ 'गौरीजीका ध्यान फिर भी कर लेना। राजकिशोरको देख क्यों नहीं लेती?'॥ २॥

टिप्पणी—१ '*धरि धीरजु एक*''' इति। '*धरि धीरज*'—भाव कि श्रीरामजीको देखकर सब सखियाँ विदेह हो गयी थीं—'*बिसरा सखिन्ह अपान*', उनमेंसे एक सखीने धीरज धरा। [रा० प्र० कार लिखते हैं कि यह सखी युवा अवस्थाकी है इसीसे सुन्दर रूप देखकर विशेष आतुर हुई, अतः धीरज धरकर बोली। अथवा, यह श्रीजानकीजीकी अति प्यारी सखी है इसीसे धैर्य धारण करके इसने ढिठायी की। पुनः, '*एक*' से जनाया कि यह प्रधान सखी है, मुख्य है। (पाँ०) अथवा, यह वही सुशीला वा सुभगा आदि नामकी सखी है जो प्रथम देख आयी थी—'*चली अग्र करि प्रिय सखि सोई।*' यह एक बार पहले देखकर प्रेमविवश हो चुकी थी, अबकी दूसरी बार फिर देखकर आपा भूल गयी थी, इसीसे इसे प्रथम होश हुआ, अतः धीरज धरकर यही सखी बोली। (रा० च० मिश्र)]

टिप्पणी—२ '*आलि सयानी*' इति। '*सयानी*' का भाव—(क) वह जानती है कि श्रीसीताजी श्रीरामजीका ध्यान हृदयमें कर रही हैं, फिर भी वह यह नहीं कहती कि 'श्रीरामजीका ध्यान न करो, उन्हें प्रत्यक्ष देख लो', [जिनका ध्यान कर रही हो वे तो प्रत्यक्ष तुम्हारे सामने खड़े हैं, अतः ध्यान करना इस समय अयोग्य है, फिर ऐसा अवसर प्रत्यक्ष दर्शनका न मिलेगा। (वै०)], वरंच यह कहती है कि 'गौरीजीका ध्यान करती हो सो फिर भी कर सकती हो' जिसमें सीताजीको संकोच न हो। [पुनः, यह सखी समय-समयपर कैसा

*अली—१७०४।

उचित है यह जानती है। इस समय सभी सखियाँ अपनेको भूली हुई हैं, उनमेंसे इसने अपना कर्तव्य विचार शीघ्र ही धैर्य धारण किया। अतः 'सयानी' कहा। (पां०) ☞ *'धरि धीरज'* और आगेके *'गहि पानी'* दोनों ही पद सयानपनको प्रकट कर रहे हैं और उसके अगले वचनोंसे भी सयानपन सिद्ध होता है। एक तो इसने छबिसमुद्र हरिरूपमें डूबते हुए भी प्रथम अपनेको सँभाला, क्योंकि स्वामिनीका कार्य करना है। दूसरे इसने सोचा कि हम सबोंके संकोचवश श्रीसीताजी प्रत्यक्ष नहीं देखतीं और आँखें बन्द किये हुए हैं, हम स्वयं उनसे देखनेको कहेंगी तो वे अवश्य संकोच छोड़ देंगी। तीसरे ध्यानसे जगानेके लिये उपाय किया सो तो निष्फल हुआ अब क्या कहकर जगावें यह इसीको सूझा, दूसरोंको नहीं। चौथे (सन्त उन्मनी-टीकाकारके मतानुसार) 'उसने सोचा कि अभीतक तो ध्यानावस्था ही है, कदाचित् समाधि लग गयी तो बड़ी बेहोशी होनेसे अस्मदादिकको खेदका कारण हो जायगा, इससे इसने धीरज धरा, अतः *सयानी* कहा'।]

टिप्पणी—३ *'सीता सन बोली गहि पानी'* इति। [इस समय सीताजी श्रीरघुनाथजीके ध्यानमें मग्न हैं, उनको पिताकी प्रतिज्ञाका किञ्चित् भी सन्ताप नहीं है, ध्यानसे शीतलताको प्राप्त हैं, इसीसे *'सीता'* नाम दिया गया (पां०)] *'गहि पानी'* इति। इससे जनाया कि सीताजीको ध्यानसे जगाया। जबतक श्रीरामजी लताकी ओटमें रहे तबतक न बोली जब लताभवनसे प्रकट हुए तब हाथ पकड़कर बोली—इस कथनका तात्पर्य यह है कि लताकी ओटमें देखकर जब वे ध्यान करने लगीं तब सखियोंको कहनेका मौका न था, क्या कहकर जगाती? जब वे प्रकट हुए उचित अवसर समझकर बोली। आगे खड़े हुए हैं, अतः अब बोलनेका मौका देख हाथ पकड़कर कहा कि सामने खड़े हैं, देख लो। [पुनः, (ख) *'गहि पानी'* बोली, क्योंकि इस समय इशारेसे काम नहीं चल सकता, कारण कि वे आँखें मूँदे हुए हैं—*'दीन्हे पलक कपाट सयानी।'* इशारा तो तभी दिया जा सकता था जब आँखें खुली होतीं। दूसरे, अधिक बोलने, बात करनेका भी समय नहीं है, क्योंकि राजकुमार सामने खड़े हुए हैं। (पां०) पुनः, (ग) हाथ पकड़कर बात कहना व्याकरणमें एक प्रकारका सम्बोधन भी माना गया है। (मा० त० वि०) अथवा (घ) पानी=मर्यादा। *'बोली गहि पानी'* अर्थात् मर्यादापूर्वक बोली, जिसमें राजकुमारादिको न मालूम हो कि उन्हींका ध्यान कर रही हैं। (ङ) इससे जनाती हैं कि हमने आपकी थाह ले ली कि किसका ध्यान कर रही हैं। 'पानी' जलको भी कहते हैं। 'कितने पानीमें हो' यह मुहावरा है। हमसे क्या छिपाती हो? (च) इससे सूचित किया कि 'कुलका 'पानी' (मर्यादा) रखो'। अथवा, 'गहि पानी'=(श्रीरामजीका) हाथ पकड़ लो अर्थात् स्वयंवर कर लो। मा० त० वि०)]

लमगोड़ाजी—मेरी 'हास्यरस' वाली पुस्तकके पृष्ठ ९० पर भी यह नोट किया गया है कि 'एक चतुर सखीने जब और कोई उपाय न देखा तो कितनी सुन्दर हँसी की।' इसके साथ *'गहि पानी'* की प्रगति फिल्मकलाको तो उभारती ही है पर साथ ही हँसीके माधुर्यको बहुत ही सरल और सरस बना देती है। फिर 'प्रेम सनक' की मग्नतासे जगानेके लिये भी तो आवश्यक है।

## 'बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू।'—इति

पं० रामकुमारजी—साक्षात्का दर्शन विशेष है, ध्यान करना सामान्य है, इसीसे गौरीका ध्यान फिर (पीछे) कर लेनेको कहती है। इष्टका ध्यान छोड़ना-छुड़ाना वर्जित है, अपराध है, इसीसे ध्यान छोड़नेको नहीं कहती, यह नहीं कहती कि उनका ध्यान छोड़ दो इनको देखो, वरंच मधुरतासे कहती है कि गौरीका ध्यान करना पर इनको देख लो। *'देखि किन लेहू'* का भाव कि जिस बातको जानकीजी छिपाती हैं (कि) सखियाँ यह न जानें कि हम श्रीरामजीका ध्यान कर रही हैं, सब यही जानें कि गौरीका ध्यान कर रही हैं, उसी बातको यह सखी भी पुष्ट करती है कि फिर ध्यान कर लेना, इनको देख लो।

पाँड़ेजी, मा० त० वि०—भाव कि गौरीका ध्यान तो तुम किया ही करती हो, उसीके फलस्वरूप ये राजकुमार सामने खड़े हुए हैं, इन्हें क्यों नहीं देखतीं? सिद्ध फल सम्मुख प्राप्त है तब साधनका काम

ही क्या? ध्यान कैसा! प्राप्त वस्तुको ग्रहण कर फिर उसकी स्थिरताके लिये ध्यान कर लेना। ये भूपकिशोर हैं, किसीके बन्धनमें नहीं हैं, ये चल देंगे तो ऐसा अवसर फिर हाथ न लगेगा।

पाँड़ेजी (क) सखी व्यंगपूर्वक कहती है कि आपको गौरीके ध्यानका कैसा अभ्यास हो गया है कि अभी तो पूजन-ध्यान कर आयीं अब फिर करने लगीं। यह उसका अवसर नहीं। वा, अब तो तुम गान्धर्व व्याह ध्यानद्वारा कर चुकी हो तो अनव्याही गौरीका ध्यान अब क्या करती हो, प्राप्तिमें सन्देह हो तब फिर कर लेना। (ख) भूपसे जातिसम्बन्ध और किशोरसे अवस्था-सम्बन्ध भी जनाया।

मा० त० वि०—धनुष किसीसे न टूटा तो जयमाल स्वयंवर होगा, अत: तुम्हारा चित्त इनको चाहता है तो इन्हें अच्छी तरह देखकर पहचान लो जिसमें फिर चूक न हो। भूप किशोरका भाव कि तुम राजकिशोरी हो और ये राजकिशोर हैं, योग भी अच्छा है।

रा० प्र०—'***भूपकिसोर देखि किन लेहू***' के भाव—(क) ध्यान करना स्वाधीन है, जब चाहे कर सकती हो और इनका दर्शन पराधीन है; अत: ध्यान फिर कर लेना, अभी इन्हें देखो। वा, (ख) भूपकिशोरको देखकर '***किन लेहू***' अर्थात् खरीद लो, मोल ले लो।

नोट—यहाँ श्रीसीताजीका श्रीरामप्रेममें मग्न होना, इस प्रकट वृत्तान्तको छिपानेकी इच्छासे पार्वतीजीके ध्यानके बहाने सचेत करना 'व्याजोक्ति' है। बोधव्य जानकीजीकी ओर क्रिया व्यञ्जित होना व्यंग्य है। सखीको '***सयानी***' कहनेमें प्रबन्धध्वनि है। (वीर)

**सकुचि सीय तब नयन उघारे। सनमुख दोउ रघुसिंघ निहारे॥ ३॥**
**नखसिख देखि राम कै सोभा। सुमिरि पिता पनु मनु अति छोभा॥ ४॥**

अर्थ—तब सीताजीने सकुच (लज्जा) कर आँखें खोलीं। रघुकुलके दोनों सिहोंको (दोनों रघुकुलश्रेष्ठोंको) सामने देखा॥ ३॥ नखसे शिखातक श्रीरामजीकी शोभा देख (फिर) पिताकी प्रतिज्ञा यादकर मन बहुत ही चिन्तित हुआ (घबराया)॥ ४॥

नोट—१ (क) '***सकुचि***' इति। 'जिस लज्जासे आँख मूँदी उन्हींको देखनेको कहती है, इसीसे सकुचकर नेत्र खोले। पूर्व कहा था कि '***लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी॥***' (२३१। ७) 'उररूप कोठरीमें स्वरूप ध्यानमें प्राप्त है वहाँ सखी भी आ पहुँची, किंवाड़े खोलनेको कहती है, इससे बड़ी लज्जा लगी, सकुचकर किंवाड़े खोल दिये। जैसे कोई अपने प्रीतमसहित एकान्तमें हाव-भावमें मग्न हो और वहाँ कोई सखी आकर किंवाड़ खुलवाये तब जैसा संकोच हो वैसा ही इनका हुआ। न खोलें तो भी नहीं बनता और खोलें तो मानसविहार जाता है। (पं० रामकुमारजी) [वि० सा० 'हास्यरस' में श्रीसीताजीकी इस अवस्थाको 'झेंपू' चरित्रका उदाहरण कहा गया है (लमगोड़ाजी)] (ख) '***सकुचि***' से 'संकुचित अधखुली' का अर्थ लेकर उसके भाव पंजाबीजी आदिने और भी कहे हैं। एक, ध्यान एकबारगी नहीं छोड़ा जाता, धीरे-धीरे हटाया जाता है, इससे सकुचे हुए अर्थात् थोड़ी-थोड़ी आँखें खोलीं। दूसरे, यह कि वियोगके भयसे पूरी आँख न खोली। तीसरे, यह कि कहीं सखी मसखरी न करती हो, पूरी आँख खोल दें तो हँसेगी कि देखो हमने तुम्हारा ध्यान छुड़ा दिया, भेद खुल गया? तुम्हारे मनमें तो ये ही थे, दिखावमात्र गौरीका ध्यान था। अत: संकुचित अधूरी आँख खोली कि यदि राजकुमार सामने न हुए तो फिर आँख बन्द कर लेंगी। (ग)—गौड़जी लिखते हैं कि '***सकुचि नयन उघारे***' कि कहीं आँखें चार न हो जायँ, नखकी ओर दृष्टि गयी। फिर धीरे-धीरे ऊपर उठी। इस समय अपनी बात पूरी करके सरकारकी दृष्टि लक्ष्मणजीकी ओर गयी थी। संयोग अच्छा था।' (घ) उपाय काम कर गया। सखीका उपालम्भ और उपहास भी कर्तव्य है, उपालम्भ करती है कि उपास्यदेवकी भाँति राजकुमारका ध्यान करती हो। सुनकर संकुचित होकर सीताजीने नेत्र खोले। स्वच्छन्द क्रियासे संकोच हुआ। क्रीड़ा सञ्चारी भाव हुआ। (वि० त्रि०)

टिप्पणी—१ '***सनमुख दोउ रघुसिंघ निहारे***' इति। (क)—जबतक पलकरूपी कपाट दिये रहीं तबतक श्रीरामजी भीतर (कैदमें) रहे। कपाट खुलते ही बाहर आ गये। (जैसे कोई कैदी किंवाड़ खुले पाकर घबड़ाकर

भाग निकले वैसे ही ये हृदयसे भाग निकले।) (ख)—'*सनमुख।*' भाव कि पहले लताकी ओटसे देखा था—'*लता ओट तब सखिन्ह लखाये।*' अब लता-भवनसे बाहर सामने खड़े देखा। (ग)—'*रघुसिंघ*' का भाव कि सिंहके समान बलवान् रूप देख पड़े। अथवा, सिंह, शार्दूल, व्याघ्र, कुंजर ये सब शब्द श्रेष्ठवाची हैं। **रघुसिंघ**=रघुकुलश्रेष्ठ। (घ) पंजाबीजी लिखते हैं कि 'यद्यपि राजा सब सेनासहित हैं और ये अकेले हैं, तो भी क्या? वे सब हाथी-सरीखे हैं और ये सिंह हैं। '*रघुसिंघ*' शब्दमें एक चमत्कार यह भी है कि जब कोई सिंह पिंजड़ेमें बन्द कर दिया जावे और फिर खोला जाय तो सामने ही आवेगा वैसे ही ध्यानसे बाहर होते ही ये सामने आ गये।' पाँड़ेजी लिखते हैं कि 'धनुष-भंगकी आकांक्षामें कारण वीरता है, अतः इस विशेषणका यहाँ प्रयोजन ही था। धनुषकी कठोरताके आगे इनकी प्राप्ति बिना वीररसके न होगी।

पं० प० प्र०—'*कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि*' श्रीरामजीके मनमें युद्धकी स्मृति ही जागृत हुई, वीररस ही जागृत हुआ क्योंकि वे रघुवीर हैं। वैसा ही यहाँ भी हुआ। श्रीसीताजी क्षत्रिय वीरकन्या हैं। क्षत्रियकन्या अपने भावी पतिमें रूपके साथ पौरुष भी चाहती है। धनुर्भङ्ग वीराग्रणीसे होगा और वह पुरुषसिंह ही कर सकेगा। रघुवंशी पुरुषसिंह हुए हैं पर उनमें भी श्रीरामलक्ष्मणजी सिंहके समान तेजस्वी, ओजस्वी, प्रतापवान्, निर्भय, शीलसम्पन्न आदि हैं। अतः '*रघुसिंघ*' कहा। जब बल-पौरुष देखा तब विश्वास हुआ कि धनुष तोड़ेंगे पर जब '*नखसिख देखि राम कै सोभा*' तब सन्देह हुआ और मन क्षुब्ध हो गया।

वि० त्रि०—दो रघुसिंहोंको देखा—'*...मृगपति सरिस असंक॥ पूरब दिसि गिरि गुहा निवासी। परम प्रताप तेज बल रासी॥ मत्त नाग तम कुंभ बिदारी।*' भाव यह कि श्रीसीताजी फुलवारी प्रकाश करती फिरती थीं, पर तम मरा नहीं था; इनके हाथसे मारा पड़ा।

नोट—२ '*दोउ*' इति। दोनोंको देखा, पर देखनेके प्रकार (भाव) में अन्तर है। श्रीरामजीको शृङ्गाररसपूर्ण दृष्टिसे देखा और लक्ष्मणजीको वात्सल्यभावसे। यथा—'*स्वामी सीय सखिन्ह लषन तुलसीको तैसो तैसो मन भयो जाको जैसियै सगाई है।*' (गी० १। ६९) (रा० प्र०)]

☞ प्रसन्नराघवनाटकमें भी लक्ष्मणजीको देखना कहा गया है। श्रीसीताजीने लक्ष्मणजीको देखकर कहा है—'*हला*, '**कोऽयं कनकवर्णः शिखण्डिपिच्छमण्डितकर्णपूरो मुग्धत्वविमुक्तलोचनविकारः कुमारो दृश्यते। इमं पश्यन्त्या मम निजवत्स इव वात्सल्यप्रक्षालितं हृदयं वर्तते॥**' अर्थात् जिसके कर्णपूर मोरपक्षसे शोभित है, वह कनकवर्ण गौर शरीरवाला यह कौन है? इसे देखकर मेरे हृदयमें वात्सल्यभावसे पाले हुए अपने वत्स (बच्चे) की भावना हो रही है। इसी प्रकार लक्ष्मणजीके हृदयमें श्रीसीताजीको देखकर सुमित्राभाव उत्पन्न हुआ जैसा प्र० रा० के '**अये केयमस्यां सुमित्रायामिव मे सुचिरप्रवृत्ता चित्तवृत्तिः॥**'(२। १५) इससे स्पष्ट है।

**'नखसिख निरखि राम कै सोभा......।' इति।**

पं० रामकुमारजी १ प्रथम 'नख देखने' का भाव कि दोनों भाइयोंको सम्मुख देखकर लजा गयीं। लज्जा वा संकोचमें नेत्र नीचे कर लिये जाते हैं, अतः दृष्टि नीचे गयी। अथवा '*सकुचि सीय तब नयन उघारे*' इसीसे दृष्टि प्रथम नखपर पड़ी। इससे यह भी पाया जाता है कि श्रीरामजी बहुत ही निकट हैं कि जिससे उनके नख देख पड़ रहे हैं। नखसे फिर धीरे-धीरे ऊपर शिखातक दृष्टि पहुँची। २—'*राम कै सोभा*', प्रथम सम्मुख दोनों भाई देख पड़े तब नखसे शिखापर्यन्त श्रीरामकी शोभा देखी। अर्थात् श्रीरामजीको अङ्गीकार (वरण) किया। ☞ऐसा ही सर्वत्र लिखते हैं। यथा—'*थके नयन रघुपति छबि देखें*', '*लोचनमग रामहि उर आनी*', '*नखसिख निरखि....*', '*धरि बड़ि धीर राम उर आनी*' और '*चली राखि उर स्यामल मूरति।*'

पाँड़ेजी—'नेत्रोंके सामने दोनों राजकुमार पड़े। '*निहारे*' का तात्पर्य यहाँ केवल इतना ही है कि नेत्र खुलते ही साधारणतः दोनोंको सामने खड़े देखा पर नखशिख शोभा केवल श्रीरामजीकी देखी। इससे धर्मका सँभाल दिखाया। उनका मन तो पहलेसे ही रामजीकी ओर लग गया था; जब नखसे शिखातक इनके शृङ्गारको देखा तब मोहित हो गयीं, यह संदेह हुआ कि धनुष तोड़नेको समर्थ नहीं हो सकते, बड़े सुकुमार हैं। अतः पिताके पनका अधिक क्षोभ हुआ।

बैजनाथजी—'यहाँ सकुचसहित नेत्र उघारना शान्तरसमय दृष्टि है, इससे दृष्टि प्रथम नखपर पड़ी। देखते समय शृङ्गार-रस आ गया, इससे शिखापर्यन्त सर्वाङ्गको देखा। जब अपने मनको आसक्त देखा तब पिताके पनको यादकर धर्म विचार सावधान हो गयी कि अभी ऐसी आसक्ति अनुचित है।'

श्रीलमगोड़ाजी—यहाँसे वीररस और शृङ्गारके माधुर्यका संघर्ष है, इसीसे कभी धीरता और कभी अधीरता होती है।

पं० रा० च० मिश्र—'कुलप्रसूता पुत्रीकी सुशीलताभरी दृष्टि नीचेसे उठती है। अतः प्रथम नख कहा। '*रघुसिंघ*' पदसे ज्ञात होता है कि समष्टिरूपसे वीरस्वरूप देखनेमें धैर्य हुआ, पर जब व्यष्टिरूपसे नख-शिखतक सुकुमारता ही देखी तब क्षोभ हुआ। यहाँ पूर्वापरका आशय सोचने योग्य है। श्रीरामजी श्रीजानकीजीके मुखकमलहीपर ठहर गये। पर मैथिलीजीके देखनेमें कवि कोई अङ्ग नियत नहीं करते, केवल रूप, छबि, शोभाहीका देखना कह रहे हैं। कारण यह कि श्रीरामजीको अपने पुरुषार्थका भरोसा है। अतः मैथिलीको स्वीकारकर मुखछबिपर ठहर गये। और इधर जनकतनया छबिपर तो मुग्ध है पर सुकुमारताको देखकर सब अङ्गोंको देखती है कि कहीं पन पूर्ण करनेकी जड़ता भी घुसी है या नहीं? अतः दृष्टि भटकती है और रूपमें फँसकर मुग्ध हो रही है।*

☞ अब यहाँ शोभा और प्रतिज्ञा दोनोंका प्राबल्य साथ-साथ दिखा रहे हैं। शोभाकी सीमा सुकुमारता है और धनुषकी सीमा कठोरता है। जहाँ देखनेसे प्रीतिकी वृद्धि है, वहीं ही धनुषका स्मरण भी है। यथा—'***निरखि निरखि रघुबीर छबि, बाढ़ै प्रीति न थोरि।***' (२३४), '***जानि कठिन सिवचाप बिसूरति***', '***नीके निरखि नयन भरि सोभा। पितुपन सुमिरि बहुरि मन छोभा॥***' (२५८। १), '***धरि बड़ि धीर राम उर आनें। फिरी अपनपउ पितुबस जानें॥***' (२३४। ८) तथा '***नखसिख देखि***'—इसका कारण यह है कि प्रीतिकी ९ (नौ) दशाएँ हैं अन्तिम दशा मृत्यु है। इनकी प्रीति नवीं दशाको प्राप्त हो चुकी। जब दसवींकी प्राप्तिकी ओर जाने लगती है तब धनुष आकर उसे रोक देता है। यथा—'**कमठपृष्ठकठोरमिदं धनुर्मधुरमूर्तिरसौ रघुनन्दनः।**' (हनु० १। ९)

'***राम कै सोभा***'—'***राम***' शब्दमें यहाँ 'रमनेवाले' का अर्थ है। (पाँ०)

टिप्पणी—२ '***मन अति छोभा।***' मनमें छोभ प्राप्त हुआ कि इनसे धनुष कैसे टूटेगा; यथा—'***कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा॥***' 'अति सुकुमारता' देख 'अति छोभा'।

**परबस सखिन्ह लखी जब सीता। भये† गहरु सब कहहिं सभीता॥ ५॥**

**पुनि आउब येहि‡ बेरिआँ काली। अस कहि मन बिहसी एक आली॥ ६॥**

शब्दार्थ—**गहरु**=देर, विलम्ब। **बेरिआँ**=समय।

अर्थ—जब सखियोंने श्रीसीताजीको पराये (अर्थात् श्रीरामजीकी शोभाके) वशमें देखा (और यह समझ लिया कि शोभाका दर्शन छोड़कर यहाँसे चलनेकी इच्छा न करेंगी। तब) सब सखियाँ डरी हुई (आपसमें) कहने लगीं कि बड़ा विलम्ब हो गया॥ ५॥ इसी समय कल फिर आवेंगी ऐसा कहकर एक सखी मनमें मुस्कुरायी॥ ६॥

नोट—१ '***परबस***' का भाव कि सीताजी श्रीरामजीकी छबिपर आसक्त हो गयी हैं, चलनेकी इच्छा नहीं है और घर लौट जानेका समय बीत गया है। '***सीता***' शब्दमें भाव यह है कि वे शीतल हो रही हैं ऐसेमें देर होनेकी चेतावनी दें तो शीतलतामें विघ्न पड़ेगा। (पाँ०) सीताजीसे ऐसी दशामें चलनेको भी नहीं कह सकतीं और चलना अवश्य है, इससे भय दर्शित करती हुई आपसमें कह रही हैं कि

---

* कोई महानुभाव नखपर प्रथम दृष्टि डालनेका यह भाव यह कहते हैं कि 'आप सोचती हैं कि देखें ये चरण कैसे हैं जिनसे जड़ अहल्याका उद्धार हुआ, क्योंकि इससे हृदयको शान्ति होती है कि जिनके चरण-रजका यह प्रताप है वे हमारा उद्धार भी अवश्य करेंगे।

† भये—१६६१, १७०४, १७६२, पाँड़ेजी। पाठान्तर 'भई'। 'भयउ'-मानसाङ्क, को० रा०। भयेउ १७२१, छ०।

‡ एहि बेरिआँ—१६६१, १७२१, १७६२, छ०।

'देर हो गयी'; जिसका भीतरी आशय यह है कि अवश्य चलना चाहिये। '*सभीता*' का भाव कि जिसमें सीताजीको भी भय हो, और भय हुआ भी जैसा आगे स्पष्ट है—'*भएउ बिलंब मातु भय मानी।*' जब इस वचनका भी कुछ प्रभाव न पड़ा, तब उनमेंसे एक सखीने गूढ़ वचन कहे और हँस दी। हँसकर अपने वचनोंमें व्यङ्ग जनाया जिसमें लजाकर अवश्य घरको चल दें। यह गूढ़ता है।

नोट—२ '*भये गहरु सब कहहिं सभीता*' का शब्दगुण (Symphony) विचारणीय है—(श्रीलमगोड़ाजी)

नोट—३ '*भये गहरु""सभीता*' इति। भय यह है कि 'विलम्ब जानकर यदि कोई यहाँ आकर देखे तो मातासे जाकर कह देगी कि वे तो पूजा नहीं करती थीं, वरंच राजकुमारोंको देखती रहीं तो एक तो हमारा अपमान होगा, दूसरे हमको दण्ड दिया जायगा और फिर हम साथ भी न आने पावेंगी, इत्यादि विचारकर सब सभीत हैं। और इस इशारेसे जनाती हैं कि और दिनोंसे आज अधिक देर हो गयी, अब चलना चाहिये।'—(बैजनाथजी) पुनः, 'राजकुमारीको भी भय है, इससे चलनेको नहीं कह सकतीं'—(पंजाबीजी) उनका प्रेम देखकर चलना जो वियोगवाचक वचन है उसे कहते डरती हैं। वा, उनकी रुचिभंगका भय है। प्रेमवश जाननेसे संकोच हुआ और परबस जाननेसे भय हुआ।

**'पुनि आउब येहि बेरिआँ काली'। इति**

☞ ग्रन्थकार स्वयं ही आगे कह रहे हैं कि यह वाणी गूढ़ है—'*गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी।*' इस वाणीमें क्या गूढ़ आशय हैं उन्हें महात्माओंने यों कहे हैं—

श्रीलमगोड़ाजी—यहाँ फिर वही व्यंग और वही झेप है (जो '*सकुचि सीय तब नयन उघारे*' में है) हाँ, इस अन्तरके साथ कि अब हास्य स्पष्ट कर दिया है—चाहे वह मनकी हँसीके साथ ही क्यों न हो, और पहले चिन्तासे मिश्रित था।

पं० रामकुमार—१ श्रीजानकीजीको इस समय चलनेकी इच्छा नहीं है। इसीसे यह सखी व्यंग्यके भीतर चलनेको कहती है। '*पुनि आउब*' कल इस समय फिर आवेंगी, अर्थात् अब चलो। २—प्रथम सखियोंने विलम्ब सुनाकर चलना व्यंजित किया पर वे वचन सुनकर भी (विलम्ब हुआ यह सुनकर भी) जब इन्होंने चलनेकी इच्छा न की तब एक सखीने विचारा कि बिना यह शोभा आगेसे हटे (ध्यानसे छूटे) ये चलनेकी इच्छा कदापि न करेंगी, अतएव ऐसी बात कहनी चाहिये जिसमें ये सकुचाकर शोभा देखना छोड़कर चलनेकी इच्छा करें। अतएव ये वचन कहे। तात्पर्य कि शोभा देखकर इतनी आसक्त हो गयी हो, कल सबेरे फिर इसी समय आवेंगी, तुम्हें यह शोभा फिर दिखा ले जावेंगी, अब चलो। ३—'*बिहँसी*' इससे व्यंग्यका स्वरूप स्पष्ट हो गया। यदि हँसती नहीं तो सीताजीको संकोच नहीं होता, वे सखीकी बातको सत्य जानतीं। हँसीसे हँसी करना निश्चय हुआ। प्रकट हँसनेसे मर्यादा न रहती। जैसे गूढ़ वचन कहे वैसे ही मनमें हँसी। जिस हँसीमें शब्द हो, वह हँसना है। जिस हँसीमें शब्द न हो, कुछ मुख विकसित हो वह मुस्कान है। मुख न विकसित हो और न शब्द हों; परंतु मुखसे हँसीका भाव दर्शित हो इस तरहकी मुस्कान मनमें मुस्काना कहा जाता है। गुप्त बात कही और गुप्त मुस्कानसे हँसी।

वि० त्रि०—अपने अपराधसे सभीत है। जब एक सखीकी दशा हमलोगोंने आँखोंसे देख ली थी तब हमलोग इन्हें यहाँ क्यों ले आयीं? यह शोभा ही उन्मादकारिणी है। भाव पलटनेके लिये माताका स्मरण दिला रही है। प्रकट हँसनेसे सीताजीका अपमान होता। अपनी उक्तिपर स्वयं ही हँस रही है, क्योंकि कल इस समय आना असम्भव है, इस समय तो धनुषयज्ञ होता रहेगा। ध्वनि यही है कि इस समय चलो, धैर्य धरो।

पाँड़ेजी—१ इस समय जानकीजीका प्रेम रामजीमें देखकर वियोगसूचक कठोर शब्द 'अब चलिये, देर हुई' नहीं कह सकतीं, इसलिये उस वियोगको संयोगसे ढाँपकर कह रही है कि कल इसी समय फिर आवेंगी। 'फिर आवेंगी, ये फिर मिलेंगे।' यह संयोगके वचन हैं, पर इनमें यह भाव भरा है कि अभी चलना चाहिये। इस कथनसे जनाती है कि तुम्हारा मन राजपुत्रमें लग गया है। फिर भी इस बातको

प्रकट न कहकर मनहीमें हँसती है जिससे सीताजीको प्रकट संकोच न हो। २—*'कहनि'* (कथन) की दूसरी चतुरता यह है कि विलम्ब होना जताती है और किसीसे यह नहीं कहती कि अब जायँगी, किसीको चलनेके लिये बाध्य नहीं करती, परंतु युक्तिसे इन वचनोंसे चलनेकी ध्वनि निकल रही है। ३—एक भाव यह है कि राजपुत्रोंसे कहती है कि इसी समय कल फिर आइयेगा।—[वीरकविजी लिखते हैं कि 'यहाँ उद्देश्य तो रामचन्द्रजीके प्रति है और कहती है सखीसे, 'व्याजोक्ति अलङ्कार है।' अपने लिये आनेकी बात कहना बोधव्य है, उसकी क्रिया सीताजी और रामचन्द्रजीकी ओर व्यंजित होना व्यंग है।' बैजनाथजीका मत है कि 'सखियोंके प्रति कल आना कहकर रामचन्द्रजीको इशारेसे सम्बोधित करनेमें गूढ़ोक्त्यालङ्कार है, और यदि ऐसा समझें कि राजकुमारोंहीसे कह रही हैं तो गूढ़ोत्तरालङ्कार होता है; पुनः स्वयं दूतत्व होता है।'] ४—आज जो इतना विलम्ब कर रही हो तो क्या कल फिर आने पाओगी? *'पुनि आउब'* अर्थात् माता कल न आने देंगी तो फिर कल इनके दर्शन दुर्लभ हो जायँगे। अतः यदि कल फिर यह आनन्द लूटना हो तो अब चलिये। और उधर श्रीरामचन्द्रजीको भी संकेत कर रही है कि आज देर कीजियेगा तो क्या कल गुरुदेवजी आने देंगे? ५—कल यही समय फिर आवेगा। अर्थात् राजकुमार कल सबेरे फिर इसी समय फूल तोड़ने आवेंगे ही तब फिर मिलाप होगा। उधर राजकुमारोंको सूचना देती है कि कल इसी समय राजकुमारी फिर यहाँ आवेंगी तब आप भी आइयेगा, इतना ही प्रेम बस है।

रा० प्र०—अथवा सखियोंसे भी कहती है कि तुम सब राजकिशोरीके सङ्गसे निकाल दी जाओगी और सखियाँ साथमें दी जायँगी। माता रुष्ट होंगी कि इतना विलम्ब करा दिया अथवा अपने प्रति भी कहती है कि किशोरीजी पुनः भले ही आवें पर मैं तो अब न आऊँगी, ऐसी दशा अपनी कौन करावे?

संत श्रीगुरुसहायलालजी—*'मन बिहँसी'* इति। भाव कि 'हमको हँसती थीं सो आज तुम्हारी भी वही दशा हो गयी है अथवा, तुम राजकिशोरी हो, बड़ी सयानी हो, तुम्हें एकदमसे बिना सोच-विचारके ऐसा चित्त चञ्चल न करना चाहिये, न जाने औरोंकी क्या दशा होगी।'

**गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी। भयेउ बिलंबु मातु भय मानी॥ ७॥**
**धरि बड़ि धीर रामु उर आने। फिरी अपनपउ पितु बस जाने॥ ८॥**

अर्थ— गूढ़ वाणी सुनकर श्रीसीताजी सकुचा गयीं। देर हो गयी (यह जानकर) माताका भय मानने लगीं॥ ७॥ बड़ा धैर्य धारणकर वे श्रीरामजीको हृदयमें ले आयीं (अर्थात् बसा लिया) और अपनेको पिताजीके अधीन जान लौट पड़ीं॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) *'सकुचानी।'* जो प्रीति सखियोंसे छिपाये हुए थीं उसे सखीने व्यंग्यद्वारा प्रकट कर हँस दिया, इसीसे सकुचा गयीं। रूपका देखना छोड़नेसे सखियोंका वचन चरितार्थ हो गया, विलम्ब जानकर डरीं (कि माता क्या कहेंगी?) [पाँड़ेजी *'मातु भय मानी'* का दूसरा भाव यह कहते हैं कि 'देर होनेसे माता भी भय मानती होंगी। क्योंकि देश-देशके राजा आये हुए हैं, न जाने किसीके मनमें क्या हो।'] (ख) *'धरि बड़ि धीर'* इति। भाव कि मनमें अत्यन्त क्षोभ हुआ था—*'सुमिरि पितापनु मनु अति छोभा'* (वहींसे इसका सम्बन्ध है); इसीसे बड़ा धीरज धरना पड़ा। अथवा अत्यन्त प्रियके वियोगमें बड़ा धीरज धरना पड़ता है; इससे बड़ा धीरज धरा पुनः भाव कि शोभा छोड़ी नहीं जाती, बहुत धीरज धरकर छोड़ा। (पाँड़ेजी कहते हैं कि बड़ी लगनमें बड़ा वियोग होता है, इसीसे बहुत धीरज धरना पड़ा) (ग)—*'रामु उर आने'* अर्थात् जब बाहरसे वियोग हुआ तब भीतरसे संयोग किया। (*'रामु उर आने'* इससे नारदवचन सत्य होगा। उन्होंने कहा था, कि जिसमें तुम्हारा मन रँग जायगा, जिसे तुम हृदयमें धारण कर लोगी वह वर तुम्हें मिलेगा। इसीसे गौरीजी कहेंगी *'नारद बचन सदा सुचि साँचा। सो बर मिलिहि जाहि मनु राचा॥'* (२३६। ८) (घ) *'अपनपउ पितु बस जाने'* इति। भाव कि मैं पिताके अधीन हूँ और पिताका प्रण है कि जो धनुष तोड़े वही हमारी पुत्रीका पति होगा। तात्पर्य कि यदि हम स्वतन्त्र होतीं तो इन्हींको जयमाल डाल देतीं।

पाँड़ेजी—*'फिरी अपनपउ पितुबस जाने'* इति। भाव कि 'सब राजा धनुषसे हार मान गये और ये राजपुत्र उसके तोड़नेमें समर्थ नहीं हो सकते, इससे पिताहीके अधीन हम हैं, वे चाहे हमें इनको व्याह दें, चाहे न व्याहें; हमारा तो कुछ वश ही नहीं—ऐसा सोचकर मनको समझाकर लौटीं।

वीरकविजी—यहाँ सीताजीके मनमें एक साथ ही कई भाव उत्पन्न हो गये हैं। *'गूढ़ गिरा'* सुनकर संकोच होना 'व्रीड़ा संचारी' भाव है। देरके कारण माताका भय है। धीरज धरना धृत संचारीभाव है, अपनपौ पितुवश जान लौटना विषाद और चिन्ता संचारी भाव हैं। अतएव यहाँ 'प्रथम समुच्चय' अलङ्कार है।

☞ श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजी—(क) यह भी तुलनाके योग्य है कि श्रीरामजीको कितनी जल्दी अपनी दशाका ज्ञान हो जाता है और श्रीसीताजीको कितनी देरीसे। स्त्रीकी निमग्नता देरसे उत्पन्न होती है, पर देरतक रहती है। (ख) 'बोले' (*'सुचि मन अनुज सन'* ) कैसा काव्य चमत्कार है। श्रीरामकी हृदयरूपी जिह्वाने जैसी व्याख्या की, वैसी श्रीसीताजीसे सम्भव नहीं। वहाँ तो केवल *'कहँ गये नृपकिसोर मन चिंता'* का ही एक आकस्मिक प्रश्न होगा और कुछ नहीं। तात्पर्य यह कि जितना भावोंमें आधिक्य एवं तथ्य होता है उतना ही विवरण कम होता है। व्याख्याशक्ति एवं वाग्मिता दोनोंका सम्बन्ध मस्तिष्कसे है और अनुभवका सम्बन्ध हृदयसे। इससे **'उर अनुभवति'** की दशा होती है, परंतु वही बोलना कठिन है। प्रत्युत वहाँ तो यही होगा कि *'न कहि सक सोऊ'* फिर विचारा कवि उसकी व्याख्या कैसे करे? (ग)—न सीताजीकी हृदयरूपी जिह्वाने कुछ वर्णन किया और न सीताजीने जिह्वाद्वारा ही सखियोंसे कुछ कहा। इसी कारण तो उनकी भावनाओं एवं प्रवृत्तियोंकी व्याख्याके हेतु सखियोंकी जिह्वा और कविकी लेखनीकी अधिक आवश्यकता हुई। (घ) पुनः तुलना श्रीरामजीके *'आपनि दसा बिचारि'* से कीजिये, श्रीसीताजीको अपनी दशाका ज्ञान भी सखियोंके खयाल दिलानेसे, बल्कि भयकी ठोकर लगानेसे, उत्पन्न हुआ जब सब बोल उठीं कि *'भयउ गहरु।'* सच है और स्त्रीत्वकी यह रोचक विशेषता है। पुरुषमें मस्तिष्क और स्त्रीमें हृदयका शासन होता है, अतः पुरुष अपने भाव एवं विचारका जितना अन्वेषण कर सकता है उतना स्त्री नहीं कर सकती। (माधुरीसे)

**दो०—देखन मिस मृग बिहग तरु फिरै बहोरि बहोरि।**
**निरखि निरखि रघुबीर छबि बाढ़ै प्रीति न थोरि॥ २३४॥**

अर्थ—मृग (हिरन वा पशु), पक्षी और वृक्षोंको देखनेके बहाने बारम्बार लौट-लौट (फिर-फिर) पड़ती हैं, रघुवीर रामचन्द्रजीकी छवि देख-देखकर अनुराग कुछ थोड़ा नहीं (अर्थात् बहुत अधिक) बढ़ता जाता है॥ २३४॥

टिप्पणी—१ (क) जब चल दीं तब फिरकर रामजीको कैसे देखें। यदि फिरकर उनको देखतीं तो सखियाँ हँसतीं, अतः लज्जावश उनकी ओर देख नहीं सकतीं। इसलिये मृग, विहंग और वृक्षोंको देखनेके बहाने पुनः-पुनः फिरकर पीछे देखती हैं। [☞ माताका भय मानकर, अपनेको पिताके अधीन जानकर, बड़ा धीरज धरकर श्रीरामजीकी मूर्तिको हृदयमें ले आयीं, तथापि मूर्ति त्यागी नहीं जाती, इसीसे पुनः-पुनः फिरती हैं। मन उनकी छबिमें फँस गया है, हाथमें नहीं आता, इससे उसे समझानेके लिये बारंबार फिरती हैं।—(पाँड़ेजी) मृग बिहंग तरु साधारण उक्ति सामान्य शब्द हैं। बागमें पशु-पक्षी, वृक्ष सभी हैं। निगाह पीछे फिरती है, इस ढंगसे कि देखनेवाला समझे कि मृगादि देख रही हैं। इनके बहाने श्रीराम-छबिका दर्शन करना, अपना इच्छित अभीष्ट साधन करना 'दूसरी पर्य्यायोक्ति' अलङ्कार है।] (ख)—जब श्रीरामजी फुलवारीमें आये तब मृगोंका वर्णन नहीं किया था और अब यहाँ 'मृग' को भी कहते हैं, इससे जाना जाता है कि इस समय कहींसे आ गये, इसीसे अपूर्व समझकर प्रथम मृगका ही बहाना किया तब विहंगका बहाना किया कि देखो *'चातक कोकिल कीर चकोरा। कूजत बिहग नटत कल मोरा॥'* तरुका मिष करती हैं कि *'लागे बिटप मनोहर नाना। बरनि बरनि बर बेलि बिताना॥'* देखो वृक्ष कैसे

फूले हुए हैं। (ग) एक ही वस्तुका बहाना कई बार नहीं किया, यह सूचित करनेके लिये कई चीजें लिखीं। विहंग, मृग और तरु तीन बहाने किये, तीनोंके लिये तीन बार लौटीं और तीन बार रामजीको देखा। इसीसे *'निरखि निरखि'* पद दिया। अर्थात् जितनी बार फिरती हैं, उतनी ही बार छबि देखती हैं। [(ग) *'रघुबीर छबि'* में अर्थका श्लेष है। वीरताकी छबिका निरीक्षण करनेपर विश्वास हुआ कि ये अवश्य धनुष तोड़ेंगे, तब अपार प्रीति बढ़ी। (घ) पूर्वार्द्धमें अवहित्था संचारी भाव है। यथा—'**अवहित्थाऽऽकारगुप्तिर्भवेद्भावेष केनचित्।**' (वि० त्रि०)]

श्रीराजारामशरणजी—*'आई कहाँसे गर्दिशे* (घुमाव) *परकार पावोंमें'* का कितना सुन्दर उत्तर है। 'र' अक्षर विचारणीय है। यह भी विचारणीय है कि बाग पार्कका-सा बड़ा है, जहाँ इस तरह बार-बार फिरनेका मौका मृगों, विहंगों और तरुओंके देखनेके बहानेसे सम्भव है।

पाँड़ेजी—'देखने' से स्थूल और *'निरखि'* से सूक्ष्म दृष्टि सूचित होती है। श्रीसीताजीने जो रघुनाथजीकी वीरता सुनी थी और देखनेमें कोमलता देखी तो उस सुकुमारताने सीताजीके हृदयको दबा लिया, जिससे वे अधीर हो गयीं, यहाँतक कि *'फिरी अपनपउ पितु बस जानें।'* अतएव चलते समय उस अधीरताको दूर करनेके लिये वीरताकी छबि निरखि-निरखि रघुनाथजीकी ओर देखती हैं। अतः *'रघुबीर'* पद यहाँ दिया। यहाँ वीरताहीका प्रयोजन है। वीरताकी छबि जिसे वे ढूँढ़ रही थीं वह मिल गयी, इससे प्रीति अधिक बढ़ी। यदि उसे न पाया होता तो प्रीतिके बढ़नेका कारण न होता। प्रीतिका उपजना पूर्व कह ही आये हैं।

टिप्पणी—२ *'बाढ़ै प्रीति'* का भाव कि प्रथम प्रीति उपजी थी। यथा—*'सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत',* अब वह बढ़ने लगी; जितने बार देखती हैं, उतनी बार बढ़ती है।

टिप्पणी—३ *'न थोरि'* का भाव कि यह न समझो कि हर बार थोड़ी बढ़ती होगी, यह प्रीति थोड़ी-थोड़ी नहीं बढ़ी किंतु बहुत-बहुत बढ़ती जाती हैं। अर्थात् पुलकावली होती है और रोम खड़े होते हैं।

नोट—रा० च० मिश्रजी लिखते हैं कि यहाँतक प्रीतिके विशेषणमें *'अधिक'* और *'अति'* विशेषण देते आये। अब प्रीतिकी सीमा पूर्ण होनेपर *'न थोरि'* विशेषण देते हैं। अर्थात् अब प्रीतिकी पूर्णतामें न्यूनता लेशमात्र भी शेष न रह गयी। बैजनाथजी लिखते हैं कि 'ज्यों-ज्यों राजकिशोरी घूम-घूमकर देखती हैं, त्यों-त्यों राजकुमारोंके निकट होते जानेसे शोभा विशेष दिखायी देती है। अतः *'बाढ़ै प्रीति न थोरि'* कहा।' (निकट कैसे हुए?)

## जानि कठिन सिवचाप बिसूरति। चली राखि उर श्यामल मूरति॥ १॥

अर्थ—शिवजीके धनुषको कठिन जानकर हृदयमें साँवली मूर्तिको रखकर बिसूरती हुई चलीं॥ १॥

पं० रामकुमारजी—१ (क) बिसूरती चलीं कि धनुष कठोर है, कैसे टूटेगा? मूर्ति कोमल है। एक चरणमें शिवचापकी कठोरता इत्यादिकी चिन्ता और दूसरेमें श्यामल मूर्तिका हृदयमें बसाना कहकर दोनोंकी प्रबलता दिखा रहे हैं। न तो धनुषकी कठोरताका संदेह ही दूर होता है और न श्यामल मूर्ति ही त्यागी जाती है।—इन दोनोंका प्राबल्य सर्वत्र दिखाया है। यथा—*'नखसिख देखि राम कै सोभा। सुमिरि पिता पनु मनु अति छोभा॥'* (२३४। ४), *'धरि बड़ि धीर रामु उर आने। फिरी अपनपउ पितु बस जाने॥'* (२३४। ८), *'जानि कठिन……'* (यहाँ); और *'नीके निरखि नयन भरि सोभा। पितु पनु सुमिरि बहुरि मनु छोभा॥'* (२५८। १) (ख) श्रीरामजीकी शोभा और पिताका प्रण दोनोंकी प्रबलता लिखनेका भाव यह है कि जब श्रीरामजीको देखती हैं तब प्रीति बढ़ती है, पर जब दसवीं दशाकी नौबत आने लगती है तब पिताके प्रणकी सुध आ जाती है जिससे वह दशा रुक जाती है, यही गुण है, यथा—*'सो कुचालि सब कहँ भइ नीकी। अवधि आस सब जीवन जीकी॥ नतरु लखन सियराम बियोगा। हहरि मरत सब लोग कुरोगा॥ राम कृपा अवरेब सुधारी। बिबुधधारि भै गुनद गोहारी॥'* (२। ३१७) (ग) श्रीजानकीजी बार-बार रामजीको उरमें ले आती हैं, इसीसे ग्रन्थकारने भी बारम्बार हृदयमें ले आना लिखा; यथा—*'लोचन मग रामहि उर आनी',*

*'धरि बड़ि धीर राम उर आनी'*, और *'चली राखि उर स्यामल मूरति'*। [बार-बार हृदयमें लाना कहकर जनाया कि जब-जब मूर्तिको हृदयमें धारण करती हैं तब-तब शिवचापका स्मरण उसे आकर निकाल देता है। यथा—*'लोचन मग रामहि उर आनी'*; हृदयमें मूर्ति रखी वैसे ही *'सुमिरि पितापनु मन अति छोभा'* बस प्रणका स्मरण होते ही मूर्ति बाहर निकल गयी। पुनः, *'धरि बड़ि धीर राम उर आने'* त्यों ही *'जानि कठिन सिवचाप बिसूरति'* ने आकर मूर्तिको फिर निकाल दिया। अतएव अब फिर मूर्तिको हृदयमें धरकर चलना कहा। (प्र० सं०)]

प० प० प्र०—*'लोचन मग रामहि उर आनी'* पूर्व २३२ (७) में कह आये। जब एक बार हृदयमें ले आना कह चुके तब पुनः-पुनः आगे हृदयमें ले आना कैसे कहते हैं। यथा—*'धरि बड़ि धीर रामु उर आने। फिरी अपनपउ पितु बस जानें॥'* (२३४। ८), *'निरखि निरखि रघुबीर छबि।'* (२३४), *'चली राखि उर स्यामल मूरति।'* (२३५। १), *'रघुबीरहि उर आनि।'* (२४८) इसका कारण यही है कि हृदयमें ले तो आती हैं पर हृदयमें रहते नहीं हैं। धनुषपर ध्यान आता है तब सशंक होती हैं, वीरतापर दृष्टि जाती है तब विश्वास होता है और वे रघुवीरको हृदयमें रखती हैं। इससे सिद्ध होता है कि सीताजीमें अपने ऐश्वर्यकी स्मृति नहीं है, वे राम और सकल उर-बासी भगवान्‌को भिन्न समझती हैं, भवानीका आशीर्वाद शुभाङ्गोंका स्फुरण और नारदजीका वचन इतने आश्रय मिले तो भी निश्चय नहीं हुआ कि श्रीरामजी धनुषको तोड़ सकेंगे। इसीसे तो यज्ञमण्डपमें आनेपर भी गणपति, शिवचाप आदिसे विनय की है। क्या यह कामके विश्वविजयका लक्षण है? कितनी चञ्चलता, छिपाव, दीनता, निराशा! श्रीरामजीमें ये कोई बातें नहीं हैं। उन्हें आत्मविश्वास है। अब कहो कि मन किसने दिया है और विजेता कौन है? [शृङ्गारी टीकाकारोंके शृङ्गार-युद्धके उत्तरमें प्र० स्वामीजीके ये लेख चले आ रहे हैं। उसी उत्साहमें उन्होंने बहुत कुछ लिख डाला है। वस्तुतः माधुर्यका निर्वाह जैसा श्रीसीताजीके चरित्रमें है वैसा श्रीरामजीके चरित्रमें नहीं हुआ। वाल्मीकिजीने ठीक ही कहा है कि रामायणमें श्रीसीताजीका ही चरित्र महत्त्वका है। जैसा उनका चरित्र होना चाहिये वैसा ही हुआ है और जैसा श्रीरामजीका चरित्र इस प्रसङ्गमें होना चाहिये वैसा ही हुआ है; इसके विरुद्ध होता तो वह चरित्र दूषित हो जाता]।

नोट—*'बिसूरति'* के अनेक अर्थ महानुभावोंने किये हैं—१—सोचती, विचारती, चिन्ता करती हुई। मनमें दुःख मानती हुई।—ये अर्थ श० सा० में दिये हैं। सं० विसूरण=शोक। २—मनमें विलाप करती हुई—(मानसाङ्क)। ३—बि= दोनों (ओर की )+सूरति=सुरात (स्मरण) करती हुई (बैजनाथजी)। ४—बिगत सूरत (अर्थात् उसका असली सूरत न रह जाना) अर्थात् टूटा हुआ जानती हुई। (पाँड़ेजी)

इन अर्थोंके अनुसार इस अर्द्धालीके भावार्थ क्रमशः नीचे दिये जाते हैं—

१ (क )—(पंजाबीजी)—'शिवजीके धनुषको कठिन जानकर चिन्ता करती हुई या प्रभुकी प्राप्ति एवं धनुषकी कठोरताको विचारती हुई, साँवली मूर्तिको हृदयमें धरकर चलीं (कि देवीसे वर माँग लें कि इन्हींसे धनुष टूटे)।' (ख) पं० रामचरणमिश्रजी लिखते हैं कि *'बिसूरति'* का अर्थ विचार करना है। विचारमें अनेक बातोंकी कल्पना हुआ करती है। पर आगेके चरणसे यह विचार ज्ञात होता है कि यद्यपि शिवधनुष महाजड़ है, बड़े-बड़े वीर हार गये हैं, तथापि इनकी वीरताके सामने हमारा कार्य इनसे अवश्य होगा, क्योंकि बुद्धिकी दृढ़ताके कारण कई पाये जाते हैं। एक तो नारदवचन, दूसरे गिरिजाका विश्वास, तीसरे जिस सुकुमारतासे चित्तमें व्यामोह था उसके परदेके भीतर वीरताका पूर्ण दृश्य है। इस निश्चयात्मिका बुद्धिसे *'चली राखि उर स्यामल मूरति।'* अन्यथा अर्थ करनेमें दोष आता है।' (ग) बाबू श्यामसुन्दरदासजी लिखते हैं कि 'यहाँ संदेह होता है कि जो धनुषकी कठिनाईको जानती थीं तो चिन्ता करना व्यर्थ था और जो चिन्ताहीमें थीं तो फिर हृदयमें मूर्तिका धरना व्यर्थ था। इसका भाव इतना ही है कि सीताजीके मनमें जब रामचन्द्रजीकी ओर अधिक प्रीति बढ़ी तब उन्हें उनके पानेकी लालसा हुई। पर यह शिवधनुष टूटे बिना सम्भव न था, इसलिये उन्हें बड़ा सोच हुआ कि अब काम कैसे बने, पर वे कुछ निश्चय न कर सकीं। मनोकामनामें कठिनाई देखकर

भी वे निराश न हुईं और रामचन्द्रजीकी मूर्त्तिको अपने हृदयमें रखकर वहाँसे चलीं। आगे चलकर जब कोई उपाय न सूझा तो सीताजी *'गईं भवानी भवन बहोरी।'*

२ श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारजी लिखते हैं कि—'शिवजीके धनुषकी कठोरताका स्मरण आनेसे उन्हें चिन्ता होती थी कि ये सुकुमार रघुनाथजी उसे कैसे तोड़ेंगे, पिताके प्रणकी स्मृतिसे उनके हृदयमें क्षोभ था ही इसलिये मनमें विलाप करने लगीं। प्रेमवश ऐश्वर्यकी विस्मृति हो जानेसे ही ऐसा हुआ, फिर भगवान्के बलका स्मरण आते ही वे हर्षित हो गयीं और साँवली छबिको हृदयमें धारण करके चलीं।'

३ (क) 'शिवचापको कठिन जानकर दोनों ओरकी सुरति करती हुई हृदयमें साँवली मूर्ति रखकर चलीं, अर्थात् एक ओर तो चापकी कठोरता, पिताके पन आदिपर ध्यान और विचार जाता है और दूसरी ओर हृदयमें रघुवीर-छबिको बसाये होनेके कारण उनके बल, वीरता और प्रतापका स्मरण करती हैं।' (ख) श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि—जब प्रीति अधिक बढ़ी तब जानकीजी अपनेको फिर सावधान करती हैं। इस तरह कि ये बड़े सुकुमार हैं, शिवचाप कठिन है, इसे कैसे तोड़ेंगे। फिर रघुवीरकी ओर देख विचारती हैं कि इन्होंने ताड़का-सुबाहु आदिको मारा तो ये धनुष कैसे न तोड़ सकेंगे? फिर यह तर्क उठा कि ताड़का आदिके वधमें तो केवल बाणविद्याका प्रयोजन था, धनुषमें तो बल चाहिये, उसपर फिर इधर यह विचारा कि अहल्या इनकी पगधूरिहीसे तर गयी तो इनके हाथोंमें इतना प्रभाव क्यों न होगा कि धनुष तोड़ सकें? इत्यादि, अनेक रीतिसे दोनों ओर चित्त जाता है।'

४ पाँड़ेजी कहते हैं कि 'धनुषको कठिन जानते हुए भी रामचन्द्रजीकी साँवली मूर्तिको हृदयमें रखनेसे धर्मकी सामान्यता पायी जाती है। अर्थात् सतीत्वधर्मके विरुद्ध होता है। इसलिये *'बिसूरति'* का दूसरा अर्थ विगत सूरति वा टूटा हुआ ही अधिक सङ्गत जान पड़ता है। इस तरह अर्थ यह होगा कि 'शिवजीके कठिन धनुषको टूटा हुआ जाना।' अथवा, यह अर्थ किया जाय कि रघुनाथजीकी वीरताके आगे चापको बिसूरते (टूटा हुआ) पाया तो उनको अपना जान उनकी स्यामल मूर्ति अपने हृदयमें रख ली। अभी रामचन्द्रजी धनुषके पास पहुँचे भी नहीं और सीताजीका यह निश्चय कर लेना कि धनुषको उन्होंने तोड़ दिया, 'आत्मतुष्टिप्रमाण अलङ्कार' है। (वीरकवि)

५ (क) रा० प० प्र०—**बिसूरति**=विगत सूरत अर्थात् बेचेत होकर। (ख) रा० प्र०—कोई कहते हैं कि **बिसूरति**=भयावन। अथवा, **'बिसूरति चली'**=देहाध्यास बिसारे हुए चली। भाव यह कि श्रीरामजीकी मूर्तिको अति कोमल जान और चापको कठिन मानकर चली।

इसी तरह मा० त० वि० में अनेक अर्थ दिये हैं जो बहुत क्लिष्ट समझकर मैंने नहीं लिखे हैं। ☞ यह शब्द तुलसी ग्रन्थावलीमें कई जगह प्रयुक्त हुआ है। यथा—(क) *'कहो सो बिपिन है धौं केतिक दूरि। जहाँ गवन कियो कुँवर कोसलपति, बूझति सिय पिय पतिहि बिसूरि॥'* (गी० २। १३) (ख) *'नाम राम अरु लषन सुरारि निकंदन। रूप सील बल राम परिपूरन॥ समुझि कठिन पन आपन लाग बिसूरन॥* (२९) *लागे बिसूरन समुझि पन मन बहुरि धीरज आनि कै। लै चले देखावन रंगभूमि अनेक बिधि सनमानि कै॥'* (श्रीजानकीमंगल यहाँ जनकमहाराजका बिसूरना कहकर फिर मनमें धैर्य धारण करना कहा है।) (ग) *'कहाँ कठिन सिवधनुष कहाँ मृदु मूरति। कहि अस बचन सखिन्ह सन रानि बिसूरति॥ जो बिधि लोचन अतिथि करत नहिं रामहिं। तो कोउ नृपहि न देत दोसु परिनामहिं॥ ४६॥ अब असमंजस भएउ न कछु कहि आवै। रानिहि जानि ससोच सखी समुझावै॥'* (श्रीजानकीमंगल। यहाँ रानीका 'बिसूरना' कहकर फिर उसीका अर्थ आगे **'ससोच'** शब्द देकर कर दिया है।)

इस तरह शब्दसागरमें दिये हुए अर्थ ही अधिक सङ्गत प्रतीत होते हैं। यही अर्थ पं० रामकुमारजी और पंजाबीजीने किया है। वि० त्रि० भी *'बिसूर'* का अर्थ 'खेद करना' कहते हैं। **खिदर्विसूरः। बिसूरइ खिद्यते।** यहाँ चिन्ता संचारी है। चिन्तासहित आना कहा *'कहँ गये नृपकिसोर मन चिंता'* अब चिन्तासहित जाना कहते हैं।

**प्रभु जब जात जानकी जानी। सुख सनेह सोभा गुन* खानी॥ २॥**

अर्थ—सुख, स्नेह, शोभा और गुणोंकी खानि श्रीजानकीजीको जब प्रभुने जाते हुए जाना॥ २॥

नोट—१ श्रीरामचन्द्रजी जानकीजीकी छबि देखते रहे थे, यथा—*'मुखसरोज मकरंद छबि करत मधुप इव पान'*, जब जाते जाना तब उनकी मूर्ति हृदयमें रख ली। **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** को चरितार्थ किया। पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'मृग, विहंग और तरुके बहानेसे अभीतक फिर-फिर आती थीं, अब, जब जानकीजी *'चलीं राखि उर स्यामल मूरति'*, तब रघुनाथजी जान गये कि अब न लौटेंगी, अब जाती हैं; तब उनको हृदयमें रखा'; इस कथनका तात्पर्य यह है कि जब साक्षात् देख पड़ती हैं, तब ध्यान क्यों करें, जब निगाहसे हटने लगीं तब उरमें बसाया।

नोट—२ रा० च० मिश्रजी लिखते हैं कि *'प्रभु'* शब्द ऐश्वर्य और सर्वशक्तिमत्ताका सूचक है और स्वामीका भी वाचक है। भाव यह कि श्रीसीताजीको स्वीकार कर लेनेके समय यह शब्द प्रयुक्त किया गया। इस प्रकरणभरमें यह शब्द और कहीं नहीं आया, केवल श्रीसीताजीके आगमनसमयके प्रारम्भमें और यहाँ अन्तमें भी यह शब्द देकर प्रभुकी प्रभुतासे इस प्रकरणको सम्पुटित किया है। अथवा, प्रभु शब्द इससे दिया कि अपना प्रभुत्व समझते हैं, जानते हैं कि हम धनुष तोड़ेंगे और जानकीजीको ब्याहेंगे, इसीसे *'परम प्रेम मय मृदु मसि कीन्ही। चारु चित्त भीतीं लिखि लीन्ही॥'* श्रीलमगोड़ाजीके भी विचार कुछ ऐसे ही हैं। (स्मरण रहे कि माधुर्य नाम 'जानकी' जनकसम्बन्धी दिया, ऐश्वर्यवाचक 'सीता' नाम न दिया, क्योंकि सीतावियोग तो कभी भी नहीं होता, उनका तो नित्य संयोग है।)

नोट—३ पाँड़ेजी—पूर्व कह आये हैं कि *'मुखसरोज मकरंद छबि करत मधुप इव पान।'* अब यहाँ दिखाते हैं कि मकरन्द-पान करनेमें कितने आसक्त हैं। जानकीजी चल दीं पर उनको सुध अब हुई जब वे फिर-फिरकर आपको देखती हैं। पुनः पूर्व जो सीताजीके सम्बन्धमें कहा था कि *'सुंदरता कहँ सुंदर करई। छबिगृह दीपसिखा जनु बरई॥'* उसको श्रीरामजीकी दशामें चरितार्थ कर दिखा रहे हैं कि वे कैसे चकित हो गये हैं कि जैसे मृग दीपकको देखकर सब सुधबुध भूल एकटक खड़ा रह जाता है। यथा—*'सतानंद ल्याए सिय सिबिका चढ़ाइ कै। रूप दीपिका निहारि मृग मृगी नर नारि, बिथके बिलोचन निमेषै बिसराइ कै॥'* (गी० १। ८४। ६) (रङ्गभूमिमें श्रीसीताजीके आनेपर सब स्त्री-पुरुष रूपको देखकर इस तरह देहसुध भूल एकटक देखने लगे थे)—जब सावधान हुए तब जाना। क्या जाना? उनका लौटना जाना एवं जानकीजीको जाना (अर्थात् अभीतक तो सुधबुध भूले थे, इससे न जाना था अब जाना), जैसा जाना सो आगे कहते हैं—*'सुख सनेह सोभा गुन खानी'* हैं, यह जाना—ये चारों बातें दृष्टिमिलापसमय ही उनमें पायी थीं, परंतु जान अब पड़ीं। (सङ्ग छूटनेपर मनुष्यके गुण याद आते हैं। जैसे मृग ज्यों-ज्यों दीपकसे दूर होता जाता है त्यों-त्यों सावधान होता जाता है)।

नोट—४ *'सुख सनेह सोभा गुन खानी'* इति। सुखखानि हैं, यथा—*'देखि सीय सोभा सुख पावा। हृदय सराहत बचन न आवा॥'* स्नेहकी खानि हैं, यथा—*'अधिक सनेह देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी'॥* शोभाखानि हैं, यथा—*'सुंदरता कहँ सुंदर करई। छबिगृह दीपसिखा जनु बरई'।* गुणखानि हैं, यथा—*'लोचनमग रामहि उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी॥'* —पुनः, पाँड़ेजीके मतानुसार *'देखन मिस मृग बिहग तरु फिरै बहोरि बहोरि'* यह चिह्न चतुराईका है और गुणका अर्थ 'चतुराई' है *'गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी'* यह भी गुण है। गूढ़ गिराका समझ लेना गुण है और मृगविहंगादिके बहानेसे देखना स्नेह और गुण प्रकट करता है।

नोट—५ श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि—'शुद्धाचरणसम्बन्धी विचार सराहनीय है। कविने सीताजीकी अलौकिक सुन्दरताके साथ केवल सुख और शोभा इन्हीं दो अंशोंकी व्याख्याकी पूर्ति की है। आगे गुण

---

* कै—छ०, १७०४। गुन—१६६१, १७२१, १७६२, को० रा०।

और स्नेहकी खानि होनेका विश्वास कब और किस प्रकार शुरू हुआ। परंतु स्मरण रहे कि ये सब शृङ्गारकी श्रेणियाँ हैं। स्नेह और गुणका विश्वास उत्पन्न होते ही गुणोंके मस्तिष्कीय अन्वेषणके पूर्व ही विश्वास पूर्णरूपेण हो जाता है।

**परम प्रेम मय मृदु मसि कीन्ही। चारु चित्त भीती लिखि लीन्ही॥ ३॥**

अर्थ—परमप्रेमकी कोमल स्याही बनाकर सुन्दर चित्तरूपी भीत (दीवार, पटल) पर (उनको वा उनके चित्रको) खींच लिया, चित्रित कर लिया॥ ३॥

नोट—१ *'चित्त भीती'* १६६१ तथा भा० दा० इत्यादिमें है। पाँड़ेजीने 'चित्रभीतर' पाठ दिया है। *'चित्त भीती'* पाठ शुद्ध है; क्योंकि 'चित्र' शब्द नपुंसक लिङ्ग है जो भाषामें पुँल्लिङ्ग माना जायेगा। उसके साथ *'लीन्ही'* क्रिया असंगत है। जो कहो कि किसको लिखा? तो पूर्व चौपाईमें *'जब'* पाठ है और *'जब' 'तब'* का नित्य सम्बन्ध है, अतः दोनों अर्धालियोंका मिला हुआ अन्वय है। *'जानकी'* यह पद कर्मकारक होकर *'लीन्ही'* क्रियामें घटित है।

बाबा माधोदासजी रामायणी—'राजकुमारी कोमल हैं इससे रामजी उन्हें अपने 'चारुचित्र' पर खींचा चाहते हैं, जिसमें चित्राङ्गमूर्तिमें भी वही कोमलता आवे, इससे पराकाष्ठाका जो प्रेम है उसीको कोमल स्याही बनाया। पुनः, स्याही काली होती है परंतु आप गौराङ्गिनी हैं और प्रेमका रङ्ग स्वर्णका-सा होता है' जैसा आपका वर्ण, वैसा ही प्रेमका। अतः प्रेमहीको स्याही बनाया था।'

पाँड़ेजी—'परम प्रेमहीको स्याही बनाया और उसपर भी उसे कोमल बनाया, यह प्रेमकी विशेषता है। श्रीजानकीजीकी मूर्ति और उनके अङ्ग कोमल हैं। यदि स्याहीमें किंचित् भी कठोरता होगी तो काम न चलेगा, उससे वह उनके अङ्गोंमें खेद उत्पन्न करेगी। अतः परम प्रेममय कोमल स्याही बनायी। अर्थात् परम प्रेमपूर्वक उनको हृदयमें धारण कर लिया।

पं० रामकुमारजी—१ (क) प्रीति रङ्ग है, इसीसे यहाँ प्रेमको मसि कहा। यथा—*'सखि रघुबीर मुख छबि देखु। चित्त भीति सुप्रीति रंग सुरूपता अवरेखु।'* (गीतावली ७। ९) जानकीजीपर अत्यन्त प्रेम किया, यही प्रेमकी स्याही बनाना है। प्रेमसे जानकीजीको चित्तमें रखा, यही मूर्तिका लिखना है। (ख) प्रेमकी मसि बनानेका भाव यह है कि मूर्ति (चित्र) बिना मसिके नहीं बनती, इसी तरह जानकीजी बिना प्रेमके हृदयमें नहीं आतीं। 'लिख लेने' से सूचित किया कि अब जानकीजी श्रीरामचन्द्रजीके चित्तमें रात-दिन रहेंगी। (ग)—*'चारु चित्त भीती'* का भाव कि जब भीती बहुत अच्छी होती है तब उसपर चित्र सुन्दर बनता है। श्रीरामजीका चित्त कोमल है यथा—*'कोमल चित कृपाल रघुराई।'* इसीसे जानकीजीकी सुन्दर कोमल मूर्ति उसपर खींच ली।

मा० त० वि०—परम प्रेममय (अर्थात् सुरति-निरतिता-सम्पन्न) मृदु अर्थात् सहज योगको स्याही बनाया। चारु चित्त अर्थात् चित्तमें जो चारु अर्थात् बाणलिङ्ग है, यथा— शिवसंहितायाम् **'पद्मस्थतत्परं तेजो बाणलिङ्गं प्रकीर्तितम्। तस्य स्मरणमात्रेण दृष्टादृष्टफलं लभेत्॥'** उसमें लिख लिया। भाव कि तुम मुझे छोड़कर कहाँ जाओगी, तुम्हारी मूर्ति तो मेरे सुरतिसे बिसरनेकी नहीं।

बैजनाथजी—श्रीकिशोरीजीके अङ्ग कोमल हैं। चित्तमें कठोरतारूपी दूषण न आवे, इसलिये परम प्रेममय मृदु मसि अर्थात् कुन्दनवर्ण कोमल स्याही बनाकर, सुमतिरूपी कलमसे मनरूपी चित्रकारद्वारा चित्तरूप सम सुघर चिक्वण निर्मल चमकदार भीतिपर हृदयके भीतर चारु अर्थात् सुन्दर सर्वाङ्ग सुठौर श्रीकिशोरीजीका चित्र लिख लिया।

☞ नोट—२ श्रीजानकीजीके सम्बन्धमें कहा था कि *'चली राखि उर स्यामल मूरति'*, अर्थात् साँवली मूर्तिको हृदयमें रखना कहा और यहाँ रामजीका उनको *'चित्त भीती'* पर लिख लेना कहा। यह भेद साभिप्राय है।

मुं० रोशनलालजी लिखते हैं कि—'हृदयमें रखनेमें जानकीपक्षमें न्यूनता और अन्तःकरणमें हृदयपटलपर

लिख लेनेमें रामपक्षमें विशेषता प्रतीत होती है। इसमें भी हेतु है। ऐसा करके कविने प्रेम और मर्यादाका निर्वाह बड़ी ही चोखाईसे कर दिखाया है। यह भेद सराहनीय है, साभिप्राय है और जान-बूझकर रखा गया है। 'श्रीजानकीजीको धनुष टूटनेमें संकल्प-विकल्प हो रहे हैं, उनके संकल्पमें सुकुमारताके कारण विकल्प भी आ जाता है। और रघुनाथजीको निश्चय है कि हम धनुष तोड़कर इनको अवश्य ब्याहेंगे। अतः प्रभुने उनको अपना मानकर उनके स्वरूपको अचल करके लिख लिया और जानकीजीको आशामात्र है इससे उनके विषयमें केवल हृदयमें धर लेना कहा।' पुनः, 'नीतिपक्षके अनुसार भी स्त्री पुरुषको ऐसे बन्धनमें नहीं कर सकती जैसे कि स्त्रीको पुरुष।' अतः गोस्वामीजीने दोनों बातोंको विचारकर दोनोंमें अन्तर दिखाया है। (पाँड़ेजी)

वैजनाथजी लिखते हैं कि 'वियोग असह्य जान संयोग हेतु दर्शनका आधार लिया है। *'परम प्रेम'* वह है जिसमें एकरस प्रीतिमें डूबा रहे। किशोरीजीने ध्यान-दर्शन स्वीकार किया और रघुनाथजीने चित्रदर्शन।'

☞ प्रभुके विषयमें *'लिखि लीन्ही'* और श्रीसीताजीके प्रति *'धरि बड़ि धीर राम उर आनें' 'चली राखि उर⋯'* कहा। क्योंकि रखी हुई वस्तु विह्वलतामें भूल जाती है। इसी तरह श्रीकिशोरीजी जब धनुषकी कठोरताको विचारेंगी तब इनकी वीरताको भूल जायँगी। यथा—*'तब रामहिं बिलोकि बैदेही। सभय हृदय बिनवति जेहि तेही॥⋯नीके निरखि राम कै सोभा। पितुपनु सुमिरि बहुरि मन छोभा॥⋯बिधि केहि भाँति धरउँ उर धीरा।⋯अति परताप सीय मन माहीं॥⋯सकुची ब्याकुलता बड़ि जानी। धरि धीरज प्रतीति उर आनी॥'* लिखी हुई वस्तु भूल नहीं सकती। प्रभुने लिखकर मानो निश्चय कर लिया कि अब ये हमारी हैं। यथा—*'मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहु परनारि न हेरी॥'* निश्चय न होता तो कभी हृदयमें न बसाते। त्रिपाठीजीका मत है कि सीताजीको पूजन करना था इसलिये उन्होंने मूर्ति हृदयमें रखी और श्रीरामजीको ध्यान करना था इसलिये चित्र लिख लिया। इस भाँति दोनों ओर स्थायीभावका उदय दिखलाया है।

☞इस प्रसङ्गमें यह भी दरसाया है कि प्रभुका चरित्र माधुर्यमय है और श्रीजानकीजीका चरित्र अति-माधुर्यमय है। प्रभुका ऐश्वर्य ताड़का आदिके वध, अहल्योद्धार, धनुर्भङ्गसे प्रकट भी हो जाता है परंतु इनका ऐश्वर्य गुप्त ही रहा।

**गई भवानी भवन बहोरी। बंदि चरन बोली करजोरी॥ ४॥**
**जय जय गिरिबरराजकिसोरी। जय महेस मुखचंद चकोरी॥ ५॥**

अर्थ—फिरसे (दुबारा) भवानीके मन्दिरमें गयीं और चरणोंमें प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोलीं—॥ ४॥ हे गिरिवरराजकिशोरी! आपकी जय हो! जय हो! हे महादेवजीके मुखरूपी चन्द्रमाकी चकोरी! आपकी जय हो!॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) *'गई⋯बहोरी।'* जब देवमन्दिरमें आवे तब देवताको प्रणाम करे और जब जाने लगे तब प्रणाम करे यह रीति है, अतः पुनः *'गई⋯'*; ऊपरसे तो यह बात दिखायी और भीतरी (आन्तरिक) अभिप्राय यह है कि श्रीजानकीजीने मनसे श्रीरामजीको अङ्गीकार (वरण) कर लिया है, अतः अब उनकी प्राप्तिके लिये प्रार्थना करेंगी और गौरीजी यही वर देंगी—*'मन जाहि राच्यो मिलिहि सो बर सहज सुंदर साँवरो।'* [बैजनाथजीका मत है कि 'पहली बार वन्दना-स्तुति रह गयी थी, पूजा और ध्यान पूर्व ही कर चुकी थीं। ध्यानहीके समय सखी आ गयी थी, इससे अब पूजाकी पूर्तिके लिये फिर आयीं।' लमगोड़ाजीका मत है कि 'श्यामलमूर्ति अब हृदयमें बस गयी है पर मिलना कठिन जान पड़ता है, इसीसे देवीकी शरणमें फिर आयीं।' ☞ यह भी याद रहे कि श्रीसीताजीको नारदवचन याद आ चुका है। *'सुमिरि सीय नारद बचन⋯'*, अतः उसीकी पूर्तिके लिये पुनः भवानी-भवनमें गयीं। (ख)—*'भवानी'* इति। मयङ्ककारका मत है कि 'यद्यपि वर्तमान सती ही हैं परंतु जानकीजीने पूजन गिरिजाका किया क्योंकि पतिनिमित्त गिरिजाहीका पूजन वेदविहित है। पुनः, भू (पृथ्वी) और भूधरसे अपनादृत है अर्थात् सम्बन्ध है। अतएव जानकीजीने

अपनी अभिलाषा गिरिजाहीसे प्रकट की, क्योंकि वे भी उक्त प्रकार सम्बन्धी हैं। इसके अतिरिक्त जो कुछ जानकीजीको माँगना है सो सब गिरिजाहीमें है, सतीमें नहीं। अत: गिरिजाका पूजन करके जो प्रशंसासूचक विशेषण कहे वही माँगा।'] (ग)—*'बंदि चरन'* इति। चरणवन्दन चौथी भक्ति है, यथा—**'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।'** हाथ जोड़नेसे देवता शीघ्र प्रसन्न होते हैं—**'अञ्जली परमा मुद्रा क्षिप्रं देवप्रसादिनी'**, *'सकत न देखि दीन कर जोरे।'* अत: *'बोली कर जोरी'*। पदवन्दन और करबद्ध प्रार्थनासे देवता भला मानते हैं, यथा—*'भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइ हैं।'* (विनय० १३५) [बैजनाथजी लिखते हैं कि प्रथम चरणकी वन्दना करके उन्होंने पूजाकी समाप्ति की। फिर विशेष प्रसन्नता-हेतु हाथ जोड़कर स्तुति करने लगीं।] ☞ कोई हाथ जोड़कर वन्दना वा विनती करते हैं, यथा—*'बिनती सचिव करहिं कर जोरी। जियहु जगतपति बरिस करोरी॥', 'बिनती करौं जोरि कर रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन॥'* इत्यादि। कोई चरण पकड़कर विनय करता है, यथा—*'सुनि सुबचन भूपति हरषाना। गहि पद बिनय कीन्ह बिधि नाना॥'* (भानुप्रताप), *'करि बिनती पद गहि दससीसा। बोलेउ बचन सुनहु जगदीसा॥', 'गहि पद बिनय कीन्ह बैठारी। जनि दिनकरकुल होसि कुठारी॥'* इत्यादि। और कोई चरणोंमें प्रणाम कर तथा हाथ जोड़कर विनय करते हैं—यह विनयकी पूर्ण मुद्रा है। यथा—*'बंदौ पद धरि धरनि सिर बिनय करौं कर जोरि।'* तथा यहाँ *'बंदि चरन बोली कर जोरी'*।

नोट—१ *'जय जय'* में आदर और प्रेमकी वीप्सा है। स्तुतिकी रीति यही है कि जो स्तुति करे उसमें अपने आभ्यान्तरिक अभिप्रायके अनुसार विशेषणयुक्त विनय सुनायी जाय। ठीक वैसी ही विनय यहाँ है। सब विशेषण साभिप्राय हैं। लमगोड़ाजी भी लिखते हैं कि 'हमारी स्तुतिमें बहुधा हमारे भावोंका प्रतिबिम्ब होता है। श्रीसीताजीके सामने स्त्री-जीवनकी सभी अवस्थाएँ नाच रही हैं और देवीमें वे सब अवस्थाएँ मंगलमय हैं, इसीसे देवीकी उन सब अवस्थाओंका वर्णन स्तुतिमें हैं।' पाँड़ेजीका मत है कि *'जय जय'* शब्द याचनाका है। अपने मनोरथकी याचना करती हैं। अत: *'जय जय'* कहा। रा० प्र० कार लिखते हैं कि सती और गिरिजा दोनों स्वरूप जनानेके लिये दो बार *'जय'* शब्द दिया। प्र० स्वामी अर्थ करते हैं कि 'अपने ऐश्वर्यका उत्कर्ष प्रकट कीजिये'। सीताजी भव-शक्तिका प्रकटीकरण ही चाहती हैं।

* टिप्पणी—२ (क) *'गिरिबरराजकिसोरी'* कहकर पितापक्षकी श्रेष्ठता कही, पिताके सम्बन्धसे बड़ाई करती हैं और *'महेस मुखचंद चकोरी'* से पतिके सम्बन्धसे बड़ाई की, तथा आगे—*'गजबदन षडानन माता'* से पुत्रपक्षकी श्रेष्ठता, पुत्रके सम्बन्धसे बड़ाई कही। इसी प्रकार निषादराजने श्रीजानकीजीकी बड़ाई की है, यथा—*'पिता जनक जग बिदित प्रभाऊ। ससुर सुरेस सखा रघुराऊ॥ रामचंद्र पति सो बैदेही। महि सोवति बिधि बाम न केही॥'* पर्वत परोपकारी होते हैं, यथा—*'संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह कै करनी॥'* (७। १२५) गिरिवरराजकी कन्या कहकर सूचित करती हैं कि आप परोपकारीकी कन्या हैं, अत: स्वयं भी उदार और परोपकारी अवश्य होंगी। हमारा उपकार करनेमें आप समर्थ हैं। पुन: भाव कि गिरिराजके यहाँ अवतार लेकर आपको पतिकी प्राप्ति करनेमें जो कष्ट हुआ और प्राप्त होनेपर जो सुख हुआ उस सबका अनुभव आपको है। पुन:, आपने प्रतिकूल पतिको भी अनुकूल कर लिया था, मैं पिताके प्रणके कारण पीड़ित हूँ, मुझे श्रीरामजीकी प्राप्ति कराकर सुख दीजिये। (पाँड़ेजी इत्यादि) (ख) *'गिरिबरराजकिसोरी'* से उनकी उदारता और परोपकारता कही। *'महेस मुखचंद चकोरी'* से जनाया कि आप महान् ईश्वर शिवजीकी सानुकूला हैं। जब 'महेश ही आपपर प्रसन्न हैं तब आप क्या नहीं दे सकतीं'? [सब कुछ दे सकती हैं। इस शब्दको देकर कर्तव्यशक्तिकी अधिकता सूचित की। (मुं० रोशनलाल) (ग) 'चकोरी चन्द्रमाकी अनन्य प्रेमिका है वैसे ही आपमें पातिव्रत्य परिपूर्ण है। मैं भी पतिकी अनुकूलता, अनन्यता और पातिव्रत्य चाहती हूँ'—। (बैजनाथजी) यहाँ 'परम्परित रूपक' है। अथवा, (घ) *'गिरिबरराजकिसोरी'* का भाव यह कि जैसे हिमाचलने आपका पाणिग्रहण शंकरजीको कराया था वैसे

ती कि मेरे पिता मेरा पाणिग्रहण श्रीरामजीको करावें। (पं०) पुनः (ङ) *'गिरिबरराजकिसोरी'* *'महेस मुखचंद चकोरी'* से अभूतपूर्व तपस्या कही। (वि० त्रि०)]

प्र०—(क) भाव कि आप जब गिरिवरराजकिशोरी थीं अपनी उस समयकी अवस्थाका। आप गिरिवरराजकिशोरी हैं और मैं विदेहराजकिशोरी हूँ। आपने अलौकिक तप किया ये तपका समय नहीं है, अतः आप अपनी तपस्याका कुछ अंश प्रकट कीजिये और वह रघुवीरकी भुजाओंमें भर दीजिये। भगवान्‌ने आकाशवाणीद्वारा आपको आश्वासन दिया था, र देकर महान् धर्मसंकटसे बचाइये, यह उपकार कीजिये, इत्यादि। (ख) *'जय महेस मुखचंद 'सरद ससिहि जनु चितव चकोरी'* श्रीसीताजीकी यह दशा ही यहाँ प्रकट हो रही है। भाव प भी मेरे समान कुमारी-दशामें ही शिव-मुख-चन्द्र चकोरी बन गयी थीं। मैं रघुपति मुख-नी हूँ; पर यह धनुर्भङ्गपर निर्भर होनेसे मैं सभीत, सचिन्त और धर्मसंकटमें हूँ। आपकी नुसार पूरी हुई जिससे आपको परम सुख हुआ। आप मुझपर कृपा करके अपना ऐश्वर्य जिससे रघुवीर ही धनुर्भङ्ग कर सकें।

**गजबदन षडानन माता। जगत जननि दामिनि दुति गाता॥ ६॥**
**तव आदि अंत* अवसाना। अमित प्रभाउ बेदु नहिं जाना॥ ७॥**

गजबदन गणेशजी और छः मुखवाले स्वामिकार्तिकजीकी माता! हे जगन्माता! हे जगदम्बे! कान्तिके समान शरीरवाली! आपकी जय॥ ६॥ आपके आदि-अन्तकी सीमा नहीं है (अर्थात् अवतार हैं)। आपका प्रभाव अपार है, उसे वेद भी नहीं जानते॥ ७॥

१ (क) *'जय गजबदन षडानन माता'* इति। गजबदनको प्रथम कहकर सूचित किया कि और षडाननजी छोटे हैं। (पर मानससे तो षडाननका ही जन्म प्रथम स्पष्ट है। विवाहके जन्म प्रथम हुआ।) *'जय जय गिरिबरराजकिसोरी'* से *'षडानन माता'* तक माधुर्य कहा, *ननि*—' से ऐश्वर्य कहते हैं। (ख) जब गिरिवरराजकिशोरी कहा तब (यह जाना गया कि ने) पतिका वर्णन किया, (केवल पतिसे जाना जाता कि सन्तान या तो है ही नहीं या सेसे) तत्पश्चात् पुत्रोंको कहा (कि पुत्र कितने प्रतापशाली और तेजस्वी हैं। एक तो प्रथमपूजनीय वसेनापति हैं। ☞ जो स्त्री उत्तम कुलमें नहीं उत्पन्न होती, जो पतिव्रता नहीं है एवं जो उसकी बड़ाई न वेदमें है न लोकमें। इन्हीं तीन बातोंसे स्त्रीकी बड़ाई होती है। इसीसे कर प्रशंसा की।

गजबदन और कार्तिकेयकी माता कहनेके और भाव—(क) देवताओंने शिवजीको प्रसन्न

---

* 'अंत अवसाना'—१६६१, १७२१, १७६२, छं०, १७०४ (परंतु रा० प्र० में 'आदि मध्य अवसाना' है), मा० कु०, वि० त्रि०, भा० दा०। आदि मध्य अवसाना— को० रा०, गौ० प्रे०।

र अन्त पर्याय शब्द हैं। पर पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि यहाँ 'अंत' का अर्थ मध्य है। यहाँ 'अंतर' को न्तिम अक्षर रकारका लोप हो गया है। संत श्रीगुरुसहायलालजीने अर्थ इस प्रकार किया है—'न तो आपका पके अन्तका अवसान अर्थात् हद है किन्तु आप अमित प्रभावरूपा हो।' शब्द-सागरमें 'अवसान' का अर्थ र सीमा भी दिये गये हैं। साकेतवासी पं० शंभुनारायण चौबे (काशी ना० प्र० पुस्तकालयाध्यक्ष) ने भी 'अंत' चीनतम पोथीका यह पाठ है और न उसमें हरताल है न पाठान्तर। अर्थ भी ठीक लगता है। अतः हमने इस रखा है।

भी 'अंत' पाठ रखा है और भाव यह लिखा है—'आविर्भाव और तिरोभावका अन्त वा समाप्ति नहीं, अर्थात् तार हैं (वह जगन्मूर्ति नित्य है, उसीसे यह संसार व्याप्त है, फिर भी उसकी उत्पत्ति अनेक प्रकारसे सुनी जाती सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम्। तथापि तत्समुत्पत्तिर्बहुधा श्रूयतां मम॥')

कर वर माँगा कि 'राक्षसोंके कर्मोंमें विघ्न हुआ करे ऐसा कोई उपाय हो,' तब शिवजीने पार्वतीजीके गर्भसे गजबदनको उत्पन्न किया। (लिङ्ग पु० अ० १०४) और तारकासुरके वधके लिये शिवजीने आपसे विवाह करके षडाननको उत्पन्न किया। ऐसे पराक्रमी राक्षसोंके विघ्नकर्ता देवताओंकी उत्पत्तिका कारण आप ही हैं तब धनुषके भङ्गमें रावणादि नाना कुटिल भूपोंके प्रति विघ्न कर देना और महान् कठोर धनुषको श्रीरघुनाथजीसे ही पराक्रम देकर भङ्ग करवाना आपके लिये कौन बड़ी बात है?

(ख) संसारमें जितने भी कार्य सिद्ध होते हैं उनके कर्ता तथा विघ्नहर्ता गणेशजी हैं और जितने शूरता-वीरताके कार्य सिद्ध होते हैं उनकी सिद्धिके कारण कार्तिकेय हैं। इन दोनोंकी उत्पत्तिके कारण आप ही हैं। मुझे दोनोंका काम है। एक तो श्रीरामजीके द्वारा धनुषका टूटना, दूसरे उसके पश्चात् परशुरामादि वीरोंका मान मर्दन करना। इसीसे दो कामोंके लिये दोनोंकी माता कहकर स्तुति की, नहीं तो एक पुत्रका नाम लेनेसे भी सबकी माताका बोध हो सकता था। (शीला, मा० त० वि०)]

(ग) 'गणेशजी सिद्धिसदन, विघ्नविहण्डन और मंगलदाता हैं। षडाननने तारकासुरको संग्राममें मारकर देवताओंको अपने-अपने लोकोंमें बसाया था। ऐसे प्रतापी तेजस्वी पुत्रोंकी आप माता हैं। हमारे मनोरथ सिद्ध कीजिये, धनुषरूपी तारकासुरका विघ्न श्रीरामजीके द्वारा मिटाकर हमारे मनोरथरूपी स्थानमें हमें बसा सकती हो।' (पाँड़ेजी)

(घ) गजाननकी सूँड़में आपने विघ्नविनाशक शक्ति दी है, रामबाहु भी सूँड़के समान है, अतः उसमें भी शक्ति भर दीजिये जिसमें वे धनुष तोड़ सकें। '*षडानन माता*' का भाव कि सद्योजात बालकमें तारकासुरके वधकी दिव्य शक्ति आपने ही दी, अतः रघुवरबाहुसे धनुर्भङ्ग करा देना आपके लिये सहज सुलभ है। (प० प० प्र०)

(ङ) 'आपके दो सबल प्रतापी पुत्र हैं, हमको ऐसे ही दो पुत्रोंकी आकांक्षा है। यह मनोरथ गीतावलीसे सिद्ध होता है; यथा—'*राम कामतरु पाइ बेलि ज्यों बौड़ी बनाइ, माँग-कोषि तोषि पोषि फैलि फूलि फरिकै।*' (१। ७०) (वै०)

टिप्पणी—२ '*गजबदन षडानन माता*' कहकर '*जगत जननि*' कहनेका भाव कि आप कुछ इन्हीं दोकी माता नहीं हैं, किन्तु जगत्‌भरकी माता हैं। यथा—'*जगत मातु पितु संभु भवानी।*' (१०३। ४) '*दामिनि दुति गाता*' अर्थात् आपके सब अङ्ग दिव्य हैं, प्रकाशमय हैं, आपका शरीर पाञ्चभौतिक पञ्चतत्त्वोंका नहीं है। '*जगत जननि*' कहकर '*दामिनि दुति गाता*' कहनेका भाव कि आप जगन्मात्रको अपने प्रकाशसे प्रकाशमान किये हुए हैं।

नोट—२ '*जगत जननि*……' के और भाव—(क) 'यदि आप कहें कि हमारा-तुम्हारा क्या नाता? तो उसपर (अपना नाता बताती हैं) कहती हैं कि आप जगन्माता हैं, मैं भी जगत्‌में हूँ और माता बच्चेकी रक्षा करती ही है, '*जिमि बालक राखें महतारी।*' (पाँ०) पुनः जगज्जननी अर्थात् जगत्‌को उत्पन्न करनेवाली हो; अतः आपके लिये कोई कार्य कठिन नहीं। (रा० प्र०) ☞ अपना कोई-न-कोई दृढ़ सम्बन्ध ईश्वरसे अवश्य लगाकर उस नातेके अनुसार बरतनेसे बड़ा सुख प्राप्त होता है। अनुभव करके देख लीजिये। अभीष्ट-सिद्धिके लिये नाता बड़ा ही प्रबल सहायक है और यों तो प्रभु सर्वशक्तिमान् हैं, जिस तरह चाहें अपना लें। विनयके '*तोहि मोहि नाते अनेक मानिये जो भावै। ज्यों त्यों तुलसी कृपाल चरन सरन पावै॥*' (पद ७९) इस पदमें भी नाता, नेह लगानेके लिये आवश्यक बताया है। (ख) '*दामिनि दुति गाता*' का भाव कि अँधेरेमें कुछ नहीं सूझता, उसमें बिजलीकी दमक होती है तो रास्ता दिखायी पड़ता है। धनुष अन्धकार है, यथा—'*नृप सब नखत करहिं उजियारी। टारि न सकहिं चाप तम भारी॥*' (२३९। १) जिससे हमें कुछ नहीं सूझता और न पिताहीको कुछ सूझता है—'*समुझत नहिं कछु लाभ न हानी।*' उस अन्धकारको अपने प्रतापरूपी प्रकाशसे मिटा दीजिये। जनकका घोर अज्ञान दूरकर उनको मेरे मनोरथके अनुसार बुद्धि दीजिये।' (मा० त० वि०) (प्र० सं०) पुनः भाव कि जैसे दामिनि और मेघका सदा संयोग है और आपको सदा पतिका संयोग है, वैसे ही मुझे पति-संयोग दीजिये। अथवा 'दामिनीसे द्युति ऐसा शरीरमें

सौन्दर्य है तथापि आपमें ऐसा सत्त्व है कि सारा जगत् आपको जननीवत् देखता है, वैसे ही हमको भी सत्त्व दीजिये।' (वै०) पुनः भाव कि 'दामिनीके समान आपके शरीरकी द्युति है (और दामिनि घनघोरामें रहती ही है) अतः आप श्रीजनकजीको एवं उनके सभासदोंको *'घन घोरा'* (बहुत सघन) ज्ञान दें जो मेरे मनोरथानुसार हो।' (मा० त० वि०) पुनः भाव कि आपका जो विद्युत्-समान प्रचण्ड तेज, सामर्थ्य, इत्यादि है उसे रघुवरबाहुमें भर दीजिये जिससे वे एक निमेषमें अशनिपातके समान भयङ्कर ध्वनियुक्त धनुर्भङ्ग कर सकें। और जबतक और लोग उठावें तबतक धनुषमें सौ दामिनिका तेज भर दीजिये कि और लोग उसे छूते ही मृतप्राय हो जायँ। (मा० त० वि०)

टिप्पणी—३ *'नहिं तव आदि अंत अवसाना।'*''''इति। (क) *'गिरिबरराजकिसोरी'* से आदि (अर्थात् जन्म), *'महेस मुखचंद चकोरी'* से मध्य (अर्थात् युवावस्था) और *'गजबदन षडानन माता'* से अन्त पाया गया। कार्य होनेपर कारणका अन्त है। इसीसे उसका निराकरण करती हैं कि आपका आदि, मध्य, अन्त कुछ भी नहीं है। अर्थात् यह सब आपकी लीलामात्र है, वास्तवमें आप ब्रह्म ईश्वरी हैं। ईश्वरकी ईश्वरता वर्णन की तब आदि, मध्य, अन्त कैसे कह सकते हैं? ईश्वरका आदि, मध्य, अन्त नहीं है। ईश्वरका स्वरूप ऐसा ही है। (ख) पुनः [प्रथम दक्षके यहाँ जन्म, यज्ञमें शरीर-त्याग, तब गिरिराजके यहाँ जन्म, फिर ब्याह, फिर जननी होकर वृद्धा हुई, इत्यादिसे *'आदि अंत अवसाना'* जाना जाता है पर वस्तुतः यह आपका खेल है; यथा—*'अजा अनादि सक्ति अबिनासिनि। सदा संभु अरधंग निवासिनि॥ जग संभव पालन लय कारिनि। निज इच्छा लीला बपु धारिनि॥'* (९८। ३-४) (प्र० सं०) पुनः भाव कि 'आदिमें काली, मध्यमें सती, अन्तमें गिरिजा इत्यादि आपकी लीलामात्र है, आप सदा एकरस शिवजीकी अर्धाङ्गनिवासिनी हैं। अथवा भाव यह कि आप आदिमें किस रीतिसे कब उत्पन्न हुईं, मध्यमें क्या लीला करती हैं, अन्तमें कबतक करती रहेंगी तथा आपका अमित प्रभाव वेद नहीं जानते। (वै०)] (ग) *'अमित प्रभाउ'* अर्थात् जितना मैंने कहा इतना ही नहीं है वरंच आपके प्रभावकी कोई मिति नहीं है। *'बेद नहिं जाना'* अर्थात् वेद भी आपके प्रभावको अमित कहते हैं। (अतः आज मेरे लिये उस प्रभावको प्रकट कीजिये।)

वि० त्रि०—वेद नहीं जानते क्योंकि आप उनकी भी आधारभूता हैं। यथा—'**शब्दात्मिका सुविमलर्ग्यजुषां निधानमुद्गीथरम्यपदपाठवतां च साम्नाम्।**' ब्रह्मा-विष्णु-महेश उद्भव, पालन, संहार आपके प्रतापसे करते हैं।

**भव भव बिभव पराभव कारिनि। बिस्वबिमोहनि स्वबस बिहारिनि॥ ८॥**

अर्थ—आप भव (संसार) को भव (उत्पन्न), पालन और संहार करनेवाली हैं। विश्वको (अपनी मायासे विशेष) मोहित करनेवाली और स्वतन्त्ररूपसे विहार करनेवाली हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) *'जगत जननि'* कहा। उससे पाया गया कि जगत्‌को उत्पन्न भर करती हैं उसका पालन और संहार नहीं करतीं, उसीपर कहती हैं कि आप भव, विभव और पराभव तीनों करती हैं। *'नहिं तव आदि अंत अवसाना'* के पश्चात् *'भव भव'''''* कहकर जनाया कि आपका आदि, मध्य, अन्त नहीं है परंच आपसे जगत्‌का आदि, मध्य, अन्त है। (ख) *'बिस्वबिमोहनि'* हो अर्थात् मायारूपा हो। *'स्वबस बिहारिनि'* अर्थात् आपका स्वतन्त्र विहार है, आपका विहार कालकर्मादिके वश नहीं है, यथा—*'जगसंभव पालन लयकारिनि। निज इच्छा लीला बपु धारिनि॥'* (ग) पुनः *'भव भव बिभव'''''* से जनाया कि ब्रह्मा-विष्णु और महेश तीनों आप ही हैं। (घ) ☞ जब ऐश्वर्य कहा तब ईश्वरके जो कर्म हैं, उद्भव, स्थिति, संहार सो भी कहना योग्य है। *'उत्पति पालन प्रलय समीहा'* ये ईश्वरके काम हैं।

नोट—१ *'भव भव'''बिहारिनि'* के और भाव—(१) '**बिभव**=ऐश्वर्य, शक्ति। विभवकारिनि हो अर्थात् कर्मानुसार फल देकर लोकोंके जीवोंका पालन करनेवाली हो, स्ववशविहारिणी हो अर्थात् किसीके वशमें नहीं हो, अतएव हमारा मनोरथ पूर्ण करनेमें सब प्रकार समर्थ हो। स्तुतिमें विशेष ऐश्वर्य वर्णन करना साधारण रीति है। अथवा कहीं पार्वतीजी यह न कहें कि सर्वेश्वरी होकर हमसे याचना करती हो, इसलिये उनका बोध कराती हैं कि नैमित्तिक लीलाकी ऐसी ही रीति है क्योंकि आप भी ऐसी ऐश्वर्यवाली हैं

पर नैमित्तिक लीलामें देह भस्म करना, तप करना आदि लीलाएँ आपने भी की हैं। वैसे ही मेरा भी लीलाप्रकरण जानिये।' (वै०)

(२) मा० त० वि०—'उत्पत्ति करती हो इससे जनकका चित्त हमारे चित्तके अनुसार कर दो। पालन करनेवाली हो तो मेरे कार्यका पालन करो। नाश करनेवाली हो तो धनुषको भङ्ग करवा दो। विश्वमोहिनी हो तो मोहनशक्तिसे मेरा मनोरथ पूर्ण करो। स्ववशविहारिणी हो तो शिवचापके भङ्गमें लिहाज न करो।'

(३) '*बिस्वबिमोहनी*' हो अत: पिता ऐसे ज्ञानी जो मोहमें पड़े हैं तो आश्चर्य क्या? उनके मोहको हटाइये, जिससे वे प्रतिज्ञा छोड़ दें। '*स्वबस बिहारिनि*' से जनाया कि हमारे ललाटमें न हो, उसे भी आप दे सकती हैं, प्रतिकूल अङ्कोंको मिटा सकती हैं। इस तरह सब प्रकारसे स्वतन्त्रता और सामर्थ्य जनाया। (मा०)

(४) '*स्वबस बिहारिनि*' शब्दमें अभिप्रेत फलकी कामना व्यञ्जित होनी गूढ़ व्यंग है कि जैसे शङ्करजीके साथ आप स्वतन्त्र विहार करती हैं, वैसा मुझे आशीर्वाद दीजिये कि मैं भी रामचन्द्रजीके सङ्ग स्वच्छन्द विहार करूँ।'

(५) '*स्वबस बिहारिनि*' कहनेका भाव कि हमारा मनोरथ जो परवश है उसे स्ववश कर दीजिये। (रा० प्र०)

प० प० प्र०—'*भव ... भव*' इति। (क) भाव कि तीन परस्पर विरोधी कार्योंको आप कर सकती हैं। अत: रघुवीरके शरीरमें धनुदमनीय तेज-प्रतापकी उत्पत्ति, मेरे पातिव्रत्य और पितृकुल-कीर्तिका पालन तथा अन्य वीरोंके तेज-प्रताप-बलका एवं भवके धनुषका संहार करना आपको क्या दुष्कर है? यह तो आपके लिये एक खेल-सा है। **भव भव**=भव (शिवजीसे जिसका भव उद्भव) है=शिवचाप। ***भव भव बिभव पराभव***=शिवचापके विभव (ऐश्वर्य) को पराभव (विनाश)। **कारिनि**=करनेवाली (आप ही हुजिये)। (ख) '*बिस्वबिमोहनि*'—भाव कि अन्य वीरोंको ऐसा मोहित कीजिये कि उनमें धनुष उठानेकी शक्ति न रह जाय। (ग) '*स्वबस बिहारिनि*' का भाव कि आपके '*स्व*' (पति) आपके वशमें हैं और आप उनके साथ सदा विहार करती हैं, मुझे भी वैसा ही सुख प्राप्त कर दीजिये।

नोट—२ श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि '*भव भव बिभव पराभव*' में वह अंश दैवीसत्ताका है जहाँतक विज्ञानकी पहुँच है, '*बिस्वबिमोहनि*' तक कला पहुँचती है, परंतु उसके स्ववशविहारको अनुमानसे धर्म-ग्रन्थ ही जानते हैं। हाँ, वास्तवमें तो वही स्वयं जाने तो जाने या वह जाने जिसे वह जना दे। सच पूछिये तो इससे संक्षिप्त व्याख्या दैवीसत्ताकी और हो ही क्या सकती है?

**दो०—पतिदेवता सुतीय महुँ मातु प्रथम तव रेख।**
**महिमा अमित न सकहिं कहि सहस सारदा सेष॥ २३५॥**

शब्दार्थ—**पतिदेवता**=पति ही जिनका इष्टदेव है=पतिव्रता।

अर्थ—पतिको अपना इष्टदेव माननेवाली उत्तम (अर्थात् पतिव्रता) स्त्रियोंमें, हे माता! आपकी प्रथम गणना (पहली गिनती) है। हजारों सरस्वती और शेष भी आपकी अपार महिमाको कह नहीं सकते॥ २३५॥

टिप्पणी—१ '*नहिं तव आदि अंत अवसाना। अमित प्रभाउ ...*' यह ऐश्वर्यका माहात्म्य है। आदि, मध्य अन्तरहित होना ऐश्वर्य है। और '*पतिदेवता ... सेष*' यह माधुर्यका माहात्म्य है। पतिव्रता होना माधुर्य है। दोनों रूपोंका माहात्म्य बराबर दिखाती हैं।—

| ऐश्वर्य | माधुर्य |
|---|---|
| १ अमित प्रभाव | महिमा अमित |
| २ कोई नहीं जान सकता ('*बेद नहिं जाना*') | इसे कोई कह नहीं सकता ('*न सकहिं कहि ...*') |

☞ तात्पर्य कि निर्गुन कहते नहीं बनता। वहाँ वाणीका गमगुजर (प्रवेश) नहीं है। और माधुर्यमें

कथन है, पर महिमा अमित है; इसीसे कहनेवालोंमें श्रेष्ठ शेष और शारदा, सो एक क्या हजारों भी जुट जायँ तो भी नहीं कह सकते। शारदा स्वर्गकी और शेष पातालके वक्ता ही जब नहीं कह सकते तो मर्त्यलोकमें कौन है जो कह सके? दोनों रूपोंका माहात्म्य कहा, इसीसे दोनों जगह माहात्म्य लिखा।

नोट—१ पूर्व *'अमित प्रभाव बेद नहिं जाना'* कहा और यहाँ *'महिमा अमित न सकहिं कहि सहस सारदा सेष।'* कहते हैं अर्थात् जब प्रभावको अमित कहा तब वेदोंका न जानना कहा और जब महिमाको अमित कहा तब कहते हैं कि शारदा-शेष नहीं कह सकते। इस भेदका कारण यह है कि ऐश्वर्यके सम्बन्धसे प्रभाव निर्गुणस्वरूपका कहा गया और निर्गुण (अव्यक्त) स्वरूप रेखरहित है, इसीसे उसका प्रभाव कथनमें नहीं आ सकता, केवल अनुभवसे जाना जा सकता है, यथा—*'सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद।'* (१। ५०) अतः प्रभावके साथ *'बेद नहिं जाना'* कहा। और माधुर्यके सम्बन्धसे महिमा सगुण स्वरूपकी है जो मन और बुद्धिका विषय है अर्थात् कही जाती है, परंतु अमित है, अकथनीय है, अतः महिमाके साथ *'न सकहिं कहि'* कहा। (प्र० सं०)

नोट—२ *'जय महेस मुखचंद चकोरी'* यह पातिव्रत्य-धर्म प्रथम कह आयीं, अब यहाँ उसीकी बड़ाई करती हैं कि पतिव्रताओंमें आपकी प्रथम गणना है। (पं० रा० कु०)

बैजनाथजी—जो जिस चीजका आचार्य होता है उसीसे वह वस्तु सीखी जाती है। आप पतिव्रताओंकी मुख्य आचार्या हैं; अतएव आपसे पातिव्रत्य-धर्म लेना चाहती हैं। *'प्रथम रेख'* अर्थात् यह मार्ग आपहीके द्वारा प्रसिद्ध हुआ। आपहीने इस मार्गपर आरूढ़ होकर दूसरोंको यह मार्ग दिखाया, यहाँतक कि शिवजीने आपको अर्धाङ्गिनी बना लिया। हमको भी इस मार्गपर आरूढ़ कर दीजिये। *'महिमा अमित'* अर्थात् स्तुतिद्वारा आपकी महिमा भला कौन और क्योंकर कह सके?

नोट—३ 'स्त्रियाँ पतिदेवताके ही सम्बन्धसे *'सुतीय'* हैं। यहाँ *'पतिदेवता सुतीय'* कहकर स्तुति करनेका भाव यह है कि श्रीजानकीजी श्रीरामजीको मनसे वरण कर चुकीं, अपना पति बना चुकी हैं—*'चली राखि उर स्यामल मूरति'*; अतः जनाती हैं कि जैसे आप शिवजीको मनसे पति मानकर उस व्रतपर दृढ़ रहीं, वैसे ही मुझपर ऐसी कृपा कीजिये कि मेरा पातिव्रत्य-धर्म निबह जाय। (रा० प्र०) पतिव्रताशिरोमणिको पतिव्रताकी सहायता करनी ही चाहिये।

नोट—४ इस ग्रन्थमें जगदाचार्य श्रीमद्गोस्वामीजीने स्त्रीके लिये पतिहीको इष्टदेव बताया है। यथा—*'एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पति पद प्रेमा॥'* (३। ५। १०) *'नारि धरम पतिदेउ न दूजा।'* (१०२। ३) और बताया है कि पातिव्रत्यका ही पालन करके स्त्री परम गतिको प्राप्त कर लेती है, यथा—*'बिनु श्रम नारि परम गति लहई। सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभ गति लहइ।'* (३। ५)

कुछ लोग इसमें सन्देह करते हैं कि 'प्राकृत पतिकी सेवासे स्त्री परमगति क्योंकर पा सकती है।' पर मेरी समझमें इसमें संदेहकी कोई बात नहीं है। जैसे जगन्मात्रको ब्रह्मका स्वरूप कहा गया है—*'बिस्वरूप रघुबंसमनि।'* (६। १४) *'सर्ब सर्बगत सर्ब उरालय।'* (७। ३४) *'सचराचर रूप स्वामि भगवंत।'* (४। ३) *'यस्य जगत् शरीरम्'* (श्रुति) ब्रह्म चिदचिद्विशिष्ट है। गुरुजी ब्रह्मका रूप कहे ही जाते हैं। लीलास्वरूपोंमें ब्रह्मका ही विश्वास किया जाता है। पत्थर, ईंट, खम्भ, श्वान, आदिमेंसे भगवान् प्रकट ही हुए। सिलपिल्ले भगवान्, विट्ठल भगवान्की कथाएँ प्रसिद्ध ही हैं। नामदेवके लिये भगवान् प्रेतमेंसे, कुत्तेमेंसे, अग्निमेंसे प्रकट ही हुए। प्रह्लादजीने भगवान्को खम्भेमेंसे प्रकट कर उनकी सर्वव्यापकता सिद्ध कर दी। तब मनुष्य-पतिको भगवान्का स्वरूप मानकर, उनको इष्टदेव मानकर जो उनकी सेवा करेगी, उसको परमपदकी प्राप्ति क्यों न होगी? अवश्य होगी। यदि ऐसा न हो तो मूर्तिपूजन, लीलास्वरूप आदिमें निष्ठा ही व्यर्थ हो जायगी। श्रीअनुसूयाजी, श्रीअरुन्धतीजी, श्रीसावित्रीजी इत्यादि परम सतियोंकी कथाएँ प्रसिद्ध ही हैं।

'पतिको पतिव्रता परमेश्वर ही जानकर पूजती है। पत्थरमें परमात्माकी भावना करके जैसे भक्त

एक पत्थरके टुकड़ेको परमात्मा बना ही छोड़ता है, वह उससे उस रूपमें ही रीझते हैं। उसी तरह अधम-से-अधम मनुष्य-पतिको पतिव्रता अपने सतीत्वसे परमेश्वर बना देती है, उसे वैकुण्ठ (परधामको) पहुँचा देती है और आप भी उसी लोकको जाती है। जलंधर और वृन्दाकी कथा प्रमाण है।' (गौड़जी)

**सेवत तोहि सुलभ फल चारी। बरदायनी* पुरारि पिआरी॥ १॥**
**देवि पूजि पद कमल तुम्हारे। सुर नर मुनि सब होहिं सुखारे॥ २॥**

अर्थ—हे वरको देनेवाली! हे त्रिपुरके शत्रु शिवजीकी प्रिये! आपकी सेवा करते ही चारों फल सहज ही प्राप्त हो जाते हैं॥ १॥ हे देवि! आपके चरणकमलोंका पूजन कर-करके देवता, मनुष्य और मुनि सभी सुखी होते हैं॥ २॥

टिप्पणी—१ *'सेवत तोहि सुलभ फल—'* इति। (क) सब प्रकारकी बड़ाई करके अब उनकी उदारता कहती हैं। उदारता कहकर अपना प्रयोजन कहेंगी। [(ख) *'सेवत तोहि सुलभ'—'सेवत'* से दीन अर्चिमार्ग सूचित किया। अर्थात् मानरहित दास-दासी आदि भावसे प्रेमपूर्वक इष्ट-परिचर्या करनेसे। (वै०) *'सुलभ फल चारी'*—भाव कि चारों फलोंकी प्राप्ति दुर्लभ है, पर आपकी सेवासे वे सब सुलभ हैं। वा, आपकी सेवासे सब फल सुगमतासे प्राप्त हो जाते हैं, उनकी प्राप्तिमें खेद, कष्ट वा कठिनता नहीं होती, औरोंकी सेवासे ये कठिनतासे प्राप्त होते हैं। (प्र० सं०, पाँ०) पुनः भाव कि औरोंकी सेवाका फल एकमात्र आपकी सेवासे प्राप्त हो जाता है। सेवासे प्रसन्न होकर आप अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों फल सेवकको प्राप्त कर देती हैं। पुनः भाव कि मैंने भी आपकी सेवा की है तब मेरे मनोरथकी सिद्धिमें आप विलम्ब क्यों कर रही हैं। (रा० प्र०) जगदम्बाके पूजनके बिना चारों फलोंकी प्राप्ति दुर्लभ है। यथा—'**यो न पूजयते नित्यं चण्डिकां भक्तवत्सलाम्। भस्मीकृत्यास्य पुण्यानि निर्दहेत् परमेश्वरी॥**' (अर्थात् जो भक्तवत्सला चण्डिकाकी पूजा नित्य नहीं करते उनके पुण्यकर्मोंको परमेश्वरी जलाकर भस्म कर देती हैं। (वि० त्रि०)] (ग) *'बरदायनी'* इति। श्रीजानकीजीने प्रथम ही पूजा करके वर माँगा था; यथा—*'पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा। निज अनुरूप सुभग बरु माँगा॥'* (२२८। ६) (पर उसी समय वह सखी आ गयी थी जिसने दोनों राजकुमारोंको बागमें देखा था। और सब-की-सब उसके साथ राजकुमारोंको देखने चल दी थीं। गिरिजाजीने उस समय *'एवमस्तु'* आदि कुछ भी न कहा था। कारण कि नारदजीका वचन भी सत्य करना था कि मनमें जिसको बसा लेंगी वह 'वर' मिलेगा।) अतः *'बरदायनी'* कहकर जनाती हैं कि (आप वर देनेवाली हैं। मैंने पूर्व ही वर माँगा था पर अभीतक वह मिला नहीं है।) अब मुझे वर मिले। (*'बरदायनी'* में 'वर' से दूलह अर्थ भी निकलता है।) [पुनः चारों फल आपकी सेवासे सुलभ हो जाते हैं यह कहकर उसका कारण दूसरे चरणमें बताती हैं कि आप *'बरदायनी'* हैं अर्थात् अर्थ-धर्म-काम तीन फलोंको तो स्वाभाविक ही आप देती हैं और *'पुरारि पिआरी'* होनेसे मोक्ष भी प्राप्त कर देती हैं। (वै०)] पहले *'सेवत'* लिखकर तब *'बरदायनी'* कहनेका भाव कि सेवा करनेसे चारों फलोंकी प्राप्ति कर देती हो।

नोट—१ *'पुरारि पिआरी'* के भाव—(क) शिवजीके प्रति गौरीजीका प्रेम कह आयी हैं, यथा—*'जय महेस मुखचंद चकोरी।'* (चकोरीका प्रेम चन्द्रमामें है पर चन्द्रमाका प्रेम चकोरीमें नहीं है। अर्थात् चकोरीकी प्रीति एकाङ्गी है। इससे यह संदेह हो सकता है कि आपका भी प्रेम एकाङ्गी है, शिवजीको आप प्रिय नहीं हैं। इस संदेहके निवारणार्थ *'पुरारि पिआरी'* कहकर शिवजीकी भी प्रीति गिरिजाजीमें कही। इस प्रकार दोनोंमें परस्पर अन्योन्य प्रेम दिखाया। (ख) जैसे शङ्करजीने त्रिपुरासुरको मारकर सुर, नर, मुनि सबको सुखी किया, वैसे ही आपके चरणकमल पूजकर सुर-नर-मुनि सब सुखी होते हैं, क्योंकि आप शिवजीको प्यारी हैं। (पं० रा० कु०) (ग) त्रिपुरासुरके निवासके तीन स्थान थे; वैसे ही यहाँ श्रीरघुनाथजीसे

* बरदाइनि त्रिपुरारि—१७०४। बरदायनी पुरारि—१६६१, १७२१, १७६२।

वियोग करानेवाले मेरे शत्रुके तीन स्थान हैं—श्रीरामजीकी सुकुमारता, पिताका प्रण और धनुषकी कठोरता। ऐसे शत्रुसे छुटकारा पानेका वरदान मुझे दीजिये, क्योंकि आप 'वरदायिनी' हैं। (पाँ०) (घ) अध्यात्मरामायण और हनुमन्नाटकके मतानुसार शङ्करजीने इसी धनुषसे त्रिपुरासुरका वध किया था, यथा—'**ईश्वरेण पुरा क्षिप्तं पुरदाहादनन्तरम्।**' (अ० रा० १०६) '**भव्यं यत्त्रिपुरेन्धनं धनुरिदम्।**'(हनु० १। ३४) इस सम्बन्धसे भी 'पुरारि' विशेषण दिया गया, यथा—'*सोइ पुरारि कोदंड कठोरा। राज समाज आज जेहि तोरा॥*' (२४९। ३) '*धनुही सम त्रिपुरारि धनु बिदित सकल संसार॥*' (२७१) '*घोर कठोर पुरारि सरासन नाम प्रसिद्ध पिनाकु।*' (गी० १। ८७) इस सम्बन्धसे '*पुरारि पिआरी*' का भाव यह है कि आप उनको प्यारी हैं, उनसे सिफारिश कर दें कि वह धनुष श्रीरामजीके लिये हलका हो जाय। (ङ) शिवजीने त्रिपुरका नाश करके तीनों लोकोंको सुखी किया था। आप उनकी प्यारी हैं, अतः आप धनुषका विनाश (श्रीरामजीके हाथसे) कराकर मुझे क्यों न सुखी करेंगी। (रा० प्र०) (च) आप जैसे पतिको प्यारी हैं वैसे ही मनभावती पतिकी अनुकूलता मुझे भी दीजिये। इस शब्दमें भी चारों फलोंके दातृत्वका लक्ष्य है। (वै०) (छ) जब स्त्री और पुरुष दोनों दानी हों तब दातव्य वा दान यथार्थ निभता है। इसीसे कहती हैं कि दोनों दानी हैं, अतः आप मुझे वर देंगी तो शिवजी भी प्रसन्न होंगे। (शीलावृत्त) (ज) पुरारिका यह धनुष है और (पूर्व कहा जा चुका है कि) पुरारिने ही यह प्रतिज्ञा जनकमहाराजसे करायी है, आप उनकी प्रिया हैं, अतः धनुर्भङ्गका उपाय स्वयं कर दें या उनसे करा दें।

टिप्पणी—२ (क) '*सेवत तोहि सुलभ फल चारी*' प्रथम कहकर अब चारोंके अधिकारी कहती हैं। सुर-नर-मुनि सब सुखी होते हैं अर्थात् आप सबके मनोरथको पूर्ण करती हैं। सब चारों फल पा जाते हैं। आप सबके मनोरथ जानकर सबको सुखी करती हैं, अतएव मेरा भी मनोरथ पूर्ण कीजिये। [(ख) चारों फलका विभाग करते हैं। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चार फल हैं। सुर अर्थ प्राप्त करते हैं। क्योंकि उन्हें स्वार्थसिद्धिकी ही चाह रहती है, यथा—'*आए देव सदा स्वारथी।*' (६। १०९) '*हम देवता परम अधिकारी। स्वारथ रत ……।*' (६। १०९) नर कामना प्राप्त करते हैं, यथा—'*मन कामना सिद्धि नर पावा।*' (७। १२९) और मुनि मोक्ष पाते हैं, यथा—'*करि ध्यान ग्यान बिराग जोग अनेक मुनि जेहि पावहीं॥*' (३। ३२) '*ताते मुनि हरि लीन न भयऊ। प्रथमहि भेद भगति बर लयऊ॥*' (३। ९) रह गया '**धर्म**' सो मेरा मनोरथ है, पातिव्रत्य धर्म मुझे प्राप्त करा दीजिये। साँवली मूर्तिको मैं पति मान चुकी, अब आप मेरे धर्मकी रक्षा करें। यह भाव पाँड़ेजीने लिखा है। पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि स्तुतिमें कहती हैं कि चारों फलोंकी प्राप्ति होती है और यहाँ इस विभागमें एक-ही-एक फलकी प्राप्ति रह जाती है इससे यह भाव शिथिल है। (ग) '*सेवत तोहि*' कहकर तब '*देवि पूजि ……*' कहा, एक ठौर सेवा दूसरी ठौर पूजा। कारण यह कहते हैं कि 'सेवा' शान्तरूपी बनती है, तीक्ष्णरूपकी सेवा कठिन है। अतः जब '*सेवत*' कहा तब 'सुतीय पतिदेवताओंमें शिरोमणि' कहकर '*मातु*' सम्बोधन दिया। और पूजा किंचित् कालका नियम है। पूजामें सब रूपोंका निर्वाह होता है, इसलिये यहाँ '*देवि*' सम्बोधन दिया। (वै०) (घ) '*सब होहिं सुखारे*' अपनी कामनाके अनुसार स्वभाव-वर्णनमें 'अर्थान्तरसंक्रमित अगूढ़ व्यंग' है कि सभी सुखी होते हैं तो मेरे भी मनोरथ पूरे होंगे। (वीर)]

वि० त्रि०—उपास्यके गुण जब उपासकमें आवें तभी समझना चाहिये कि ठीक उपासना हुई।

| उपास्य | उपासक |
|---|---|
| *गिरिराजकिशोरी* | १ *बिदेहकुमारी* |
| *महेस मुखचंद चकोरी* | २ *सरद ससिहि जिमि चितव चकोरी* |
| *गजबदन षडानन माता* | ३ *दुइ सुत सुन्दर सीता जाए* |
| *जगतजननि* | ४ *जगदंबा जानहु जिय सीता* |
| *दामिनि दुति गाता* | ५ *दुलहिनि तड़ित बरन तन गोरी* (गी०) |

| उपास्य | उपासक |
|---|---|
| *भव भव बिभव पराभव कारिनि* | ६ *उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं* |
| *अमित प्रभाव बेद नहिं जाना* | ७ *तव प्रभाव जग बिदित न केही* |
| *पतिदेवता महुँ प्रथम रेख* | ८ *सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं।* |
| *सेवत सुलभ फल चारी* | ९ *सर्वश्रेयस्करीं सीतां* |
| *बरदायनी* | १० *आसिष तव अमोघ बिख्याता* |
| *पुरारि पियारी* | ११ *रामवल्लभां* |

**मोर मनोरथ जानहु नीकें। बसहु सदा उर पुर सबही कें॥ ३॥**
**कीन्हेउँ प्रगट न कारन तेही। अस कहि चरन गहे बैदेही॥ ४॥**

अर्थ—मेरा मनोरथ आप अच्छी तरह जानती हैं। (क्योंकि) सभीके हृदयरूपी नगरमें आप सदा वास करती॥ ३॥ इसी कारण मैंने (उसे) प्रकट नहीं किया।—ऐसा कहकर विदेहकुमारीने चरण पकड़ लिये॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'बसहु उर पुर सबही कें'* अर्थात् अन्तर्यामीरूपसे हृदयमें बसती हो। जहाँ *'उर'* में तुम्हारा वास है, वहीं उरमें हमारा मनोरथ भी है; यथा—*'चली राखि उर श्यामल मूरति'* उसी-(श्याम मूर्तिकी प्राप्ति-) का मनोरथ है। अतः एक ही ठौर होनेसे जानती हो। (पुनः अनाहत-चक्रमें शिवदुर्गाका निवास है और वहीं मनका निवास है, इसलिये मनोरथको जानती हो। (वि० त्रि०) (ख) *'बसहु सदा'* का भाव कि अन्तर्यामीरूप सबके हृदयमें बसता है, सगुणरूप सदा नहीं बसता, जबतक स्मरण रहता है तभीतक वह हृदयमें रहता है, यथा—*'काटत सिर होइहि बिकल छुटि जाइहि तव ध्यान। तब रावनहिं हृदय महुँ मरिहहिं राम सुजान॥'* (६। ९८) [☞ सगुणरूप सदा हृदयमें नहीं बसता, इसी कारण संत सदा वास करनेकी प्रार्थना करते हैं। यथा—*'मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निःकाम', 'अनुज जानकी सहित निरन्तर। बसहु राम नृप मम उर अंतर॥' 'बैदेहि अनुज समेत। मम हृदय करहु निकेत॥' 'मम हिय बसहु निरंतर सगुनरूप श्रीराम', 'बसहु हृदय श्री अनुज समेता'*; इत्यादि] (ग) श्रीजानकीजी लज्जावश मनोरथ प्रकट नहीं करतीं, कहती हैं कि हृदयकी जानती हो इसीसे मैं नहीं कहती। जब अन्तःकरणकी जानती हैं तो यह भी जानती हैं कि लज्जावश नहीं कहती हैं; पर यह भी बात कहते लजाती हैं कि मैं लाजके मारे नहीं कह सकती। गीतावलीमें भी कहा है—*'अंतरजामिनि भवभामिनि सोहौं कही चाहौं बात मातु अंत तो हौं लरिकै।'* (१। ७०। २)

टिप्पणी—२ (क) यहाँ जानकीजीके मन, वचन और तन तीनोंका हाल कहा। मनोरथको प्रकट न किया यह मन, *'अस कहि'* यह वचन और *'चरन गहे'* यह तनका हाल है। (ख) —प्रार्थनाके प्रारम्भमें *'बंदि चरन बोली कर जोरी'* और उसके अन्तमें *'अस कहि चरन गहे बैदेही'* कहकर जनाया कि उपक्रम और उपसंहार दोनोंमें चौथी उक्ति चरणवन्दन प्रधान है। तात्पर्य कि चरण-वन्दनसे सब सुखी होते हैं, यथा—*'देवि पूजि पदकमल तुम्हारे। सुर नर मुनि सब होहिं सुखारे'*॥ इसीसे मैंने भी चरणोंका ही आश्रय लिया है, इन्हीं चरणोंके प्रसादसे मेरा भी मनोरथ पूरा हो, मैं भी सुखी हो जाऊँ। [(ग) *'बैदेही'* शब्द देकर जनाया कि चरणोंको पकड़कर देहसुध भूल गयीं। *'गहे'* से जान पड़ता है कि चरण पकड़े रह गयीं। जैसे मनुजीकी दशा हुई थी—*'अस बरु माँगि चरन गहि रहेऊ।'* (१५१। ७) (प्र० सं०) 'चरण पकड़े रह जाना' यह दशा बड़ी ही हृदयद्रावक है। इसीसे भवानी 'प्रेमवश' हो गयीं।]

नोट—☞ *'बंदि चरन बोली कर जोरी'* से लेकर *'अस कहि चरन गहे बैदेही'* तक अपनी कामनाके पूर्तिनिमित्त प्रार्थनाकी रीति दिखायी है। प्रथम देवताके समीप जाकर प्रणाम करे तब हाथ जोड़कर स्तुति करे। स्तुतिमें (१) प्रथम कुलकी प्रशंसा करे, फिर (२) स्वरूपकी तब (३) उदारताकी। (४) उदारता दिखाकर तब अपना मनोरथ कहे। (५) अन्तमें फिर प्रणाम करे। ऐसा करनेपर मनोरथकी सिद्धि होती है।

यहाँ *'जय जय गिरिबर राजकिसोरी'* से *'षडानन माता'* तक कुलकी प्रशंसा है। *'जगत जननि……'* से *'पति देवता……'* तक स्वरूपकी प्रशंसा है। *'सेवत तोहि सुलभ……'* से *'सब होहिं सुखारे'* तक उदारता कही और तब *'मोर मनोरथ……'* कहा।

**बिनय प्रेम बस भई भवानी। खसी माल मूरति मुसुकानी॥ ५॥**

अर्थ—श्रीपार्वतीजी (श्रीसीताजीकी) विनय और प्रेमके वश हो गयीं। माला खिसक पड़ी और मूर्ति मुस्कुरायी॥

टिप्पणी—पं० रामकुमारजी—१ चरण पकड़ना तनकी भक्ति है, विनय करना वचनकी भक्ति है और प्रेम होना मनकी भक्ति है। तात्पर्य कि मन, वचन, कर्म तीनोंकी भक्ति देख भवानी वशमें हो गयीं। फूलकी माला पार्वतीजीके कण्ठसे प्रसादके लिये गिरी। उसीको सीताजीने सादर सिरपर धारण कर लिया जैसा आगे कहते हैं। गीतावलीमें पार्वतीजीका प्रसादमाला देना लिखा है, यथा—*'मूरति कृपाल मंजु माल दै बोलत भई। पूजो मन कामना भावतो बर बरि कै।'* (१। ७०)

नोट—१ बैजनाथजी लिखते हैं कि 'इस स्तुतिमें किशोरीजीके जितने वचन हैं सब अभिप्रायगर्भित हैं। *'गिरिबर राजकिसोरी'* से बाल्यावस्थाकी सुध हुई कि हमें भी पतिकी प्राप्तिके लिये ऐसी ही आतुरता थी, अतः करुणा आ गयी। *'महेस मुखचंद चकोरी'* में यह अभिप्राय है कि चन्द्रसे चकोरीकी एकांगी प्रीति है वैसे ही चन्द्रशेखर शिवजी (आपसे) उदासीन थे, उनका मिलना दुर्घट था तो भी आप न हटीं और शरीर ही भस्म कर डाला। यह समझकर और भी अधिक प्रेमवश हुईं कि इससे जनाती हैं कि रघुपति परस्त्रीसे उदासीन हैं और पिताका पन कठिन है, यदि उनकी प्राप्ति न हुई तो यह (मेरा) शरीर नहीं रह सकता।……इत्यादि समझकर प्रेमवश हो गयीं। क्योंकि इस दशाका अनुभव स्वयं भलीभाँति कर चुकी हैं—*(हठ न छूट छूटै बरु देहा)*। उनकी आतुरता सह न सकीं, शीघ्र ही प्रसन्नता प्रकट करनेको प्रसाद देनेकी इच्छासे माला खसी अर्थात् खिसक पड़ी। (बै०) [☞मालाएँ चार प्रकारकी होती हैं। एक तो वह जो ग्रीवासे नाभिपर्यन्त लटकी रहती है, इसे 'प्रलम्ब' कहते हैं। यज्ञोपवीत जो माला होती है उसे 'वैकक्षिक' कहते हैं। जो शीशमें लपेटी जाय उसे 'ललामक' और जो माला सिरपरसे लटकी रहती है उसे 'माल' कहते हैं।—**'माल्यं माला स्रजो मूर्ध्नि।'** इत्यमरः (बै०)] मा० त० वि० का मत है कि *'जय जय गिरिबर……'* इत्यादि विनय है और *'चरन गहे बैदेही'* यह प्रेम है। (मा० त० वि०) अथवा, विनय सुनकर और उनकी महिमा समझकर जैसा श्रीरामतापिनी आदि उपनिषदोंमें है और उनके सौशील्य, सौहार्द गुणको विचारकर कि इन्होंने हमें कृपा करके बड़ाई दी—(जैसे गङ्गाजीने प्रकट कहा है—*'तव प्रभाउ जग बिदित न केही॥ लोकप होहिं बिलोकत तोरें। तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरें॥ तुम्ह जो हमहिं बड़ि बिनय सुनाई। कृपा कीन्हि मोहि दीन्हि बड़ाई॥ तदपि देवि मैं देबि असीसा। सफल होन हित निज बागीसा॥'* (२। १०३)) भवानी प्रेमवश हुईं। (बै०)

नोट—२ *'खसी माल……'* इति। (क) पं० रामकुमारजीका मत ऊपर आ गया। बैजनाथजी यह भी लिखते हैं कि श्रीसीताजीकी महिमा विचारकर उन्होंने उनको गुप्त प्रणाम किया इससे माला खसी। अर्थात् पार्वतीजीने अपने सिरकी मालाभूषण किशोरीजीके चरणोंपर स्थापित कर दिया। सन्त उन्मनीटीकाकार लिखते हैं कि विनय, प्रेमवश होना इससे भी सिद्ध है कि उनको यह भी विचार न रह गया कि पाषाणविग्रह हैं और मुस्कुरा दीं।

☞ यहाँ लोग यह शंका करते हैं कि माला कहाँसे आयी? इसका उत्तर यह है कि जानकीजीने प्रथम ही *'पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा। निज अनुरूप सुभग बरु माँगा॥'* अनुरागपूर्वक पूजन किया तो उसमें पुष्पमाला अवश्य चढ़ायी होंगी; बिना माला पूजा कैसी? पूजा करके वर माँगा और ध्यान करने लगीं। केवल स्तुति और वरदान पाना बाकी रहा था। अतः दुबारा मन्दिरमें गयीं। वा, नारदवचनके अनुसार अपने हृदयमें प्रभुकी मूर्ति बसाकर फिर उसीका वरदान माँगनेके लिये दुबारा मन्दिरमें गयी

थीं। भवानी प्रेमके वश हो गयीं, इससे जो माला देना चाहती थीं वह फिसल पड़ी या यों कहें कि आपने प्रसाद-माला सीताजीकी ओर खिसका दीं, क्योंकि जानकीजीको प्रेमके वश प्रसाद लेनेकी भी सुध न रही थी। गीतावलीमें भवानीका प्रसाद देना और प्रत्यक्ष बोलना स्पष्ट कहा गया है।—यही मत श्रीनंगे परमहंसजीका भी है।

बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि—'(सवैया—*'पलकांक्षित प्रेम बिनै सियकी सुनिकै गिरिजा वशिभूत भई। खसि फूलनमाल मनो जयमाल सबै फल कारन बिहँसि दई॥ लै सादर सो सिय मेलि गले कहि गौरि हिये अति हर्ष भई। मन पूरन काम असीस सही जिमि नारद बैन सुचैन कई॥'* ) श्रीसीताजीकी विनय फल-कांक्षी और प्रेमयुक्त है। उसे सुनकर वशीभूत हुई अर्थात् प्रकट होकर बोलने लगीं, फूलोंकी माला कृपा करके खिसका दी। मालाप्रसाद देनेका हेतु यह है कि तुमको अपने जयमालकी चिन्ता है कि होगा या नहीं, क्योंकि पिताके अधीन है सो यह सुमनमाल जयमाल ही प्रसाद है। तुम चिन्ता मत करो। विनय फलकांक्षीका है, समस्त फलोंका कारण फूल ही है, फूलके अन्तर्गत फल ही है। फूलमाला ही मनोवाञ्छित फलकी प्राप्ति जाना। हँसकर अपनी प्रसन्नता जनायी।'

करुणासिंधुजीका मत है कि 'विनयप्रेमके वश हैं तो प्रसाद देनेकी सुध कहाँ?' और यह अर्थ करते हैं कि 'सीताजीके हाथसे माला खिसक पड़ी (जो वे भवानीको पहनाना चाहती थीं), इसपर मुस्कुरायीं'। पर कवि लिखते हैं कि *'चरन गहे बैदेही'* अर्थात् दोनों हाथ तो चरणोंमें लगे हैं, इसके पीछे कवि लिखते हैं कि *'बिनय प्रेम बस भई भवानी'* बीचमें चरणोंको छोड़कर माला पहनाना कहीं नहीं लिखा गया। दूसरे, चरणोंमें प्रणाम पूजा और विनयके अन्तमें होनेकी विधि है। भवानीका प्रसङ्ग तुरत *'चरन गहे बैदेही'* के साथ ही प्रारम्भ हो जाता है। नंगे परमहंसजी भी कहते हैं कि 'पुष्प-मालादिका चढ़ाना प्रथम ही पूजनके समय पाया जाता है दूसरी बार तो विनयमात्रका किया जाना सूचित है'।

पं० ज्वालाप्रसादका मत है कि 'खसीमाल पाषाणको कहते हैं अत: अर्थ यह है कि पाषाणविग्रह हँसी मालाका प्रसङ्ग यहाँ नहीं रह जाता।' पर यह क्लिष्ट कल्पना जान पड़ती है। नंगे परमहंसजी लिखते हैं कि 'जो लोग कहते हैं कि *'खसी माल'* मूर्तिका नाम या विशेषण है वे और भी अंधकारमें माने जायँगे। यदि माला नहीं खसी तो यह चौपाई व्यर्थ हो जायगी कि *'सादर सिय प्रसाद सिर धरेऊ'।* जब मालाप्रसाद मिली ही नहीं तो शीशपर क्या धारण किया'?

श्रीलमगोड़ाजी अपने वि० सा० हास्यरस पृष्ठ १०८ में लिखते हैं कि 'सीताजी उनकी पूजा अधिक अनुरागसे करती हैं और सङ्कोचमें बड़ी सुन्दरतासे अपना मनोवाञ्छित फल यों माँगती हैं—*'देवि पूजि ''' बसहु सदा उर पुर सब ही के'।* आह, अब प्रेमावेग रुक न सका, सीताजीके हाथसे वह माला छूट पड़ी जो पार्वतीजीको पहनाना चाहती थीं और वह पार्वतीके चरणोंपर गिर पड़ी। कवि लिखते हैं *'कीन्हेउँ प्रगट ''' मुसुकानी'।* पार्वतीजीकी मुस्कान कितनी सुन्दर है और कविकी आलोचना कितनी मर्मपूर्ण। पार्वतीजी विनय और प्रेमके वश होकर उदारतासे मुस्कुरायी हैं, परिहासभावसे नहीं। हाँ, हास्यका इतना पुट अवश्य है कि वे सीताजीकी प्रेमनिमग्नताको ताड़ जाती हैं, जिसके कारण उनके हाथसे माला गिर गयी थी। बहुत-से लोग माला खिसकनेका अर्थ यह करते हैं कि वह पार्वतीजीके सिरसे खिसकी थी जो प्रसादरूप था और मुसकान केवल प्रसन्नताकी मुसकान थी, जिसमें हास्यभाव न था। मुझे स्वयं तो पहला ही अर्थ अभीष्ट है क्योंकि उसमें हास्यका आनन्द और काव्यचमत्कार है। सीताजीकी बेसुधी तो देखिये कि माला गिरी तो है अपने हाथसे, पर कवि लिखता है कि *'सादर सिय प्रसाद सिर धरेऊ'।* मानो सीताजीने उसे प्रसाद ही समझा। इस अर्थमें हास्य एवं शान्तभावका बड़ा सुन्दर मिश्रण है, पर दूसरे अर्थमें केवल शान्तरस है। *'खसी'* क्रिया भी मेरी ही बातकी पुष्टि करती है, जिसकी कर्ता माल है न कि देवी।'

कोई-कोई ऐसा भी कहते हैं कि मालाप्रसाद सिरमें पहननेकी रीति है। भवानीने ऐसा नहीं किया क्योंकि

श्रीसीताजी इस समय श्रीरामजीको हृदयमें बसाये हुए हैं। शिवजी यह न समझ लें कि भवानीने श्रीरामजीको जयमाल पहनाया है, जो हमारा पुनः त्याग कर दें। (पर सती-मोहकी लीला तो अभी हुई नहीं है।)

टिप्पणी—२ *'मूरति मुसुकानी'* इति। पार्वतीजी जानकीजीकी महिमा जानती हैं, इसीसे माधुर्यके वचन सुनकर मुसुकायीं। इसी तरह श्रीरामजीके माधुर्य वचन सुनकर अगस्त्यजी मुसकाये थे; यथा—*'अब सो मंत्र देहु प्रभु मोही। जेहि प्रकार मारौं मुनिद्रोही॥ मुनि मुसुकाने सुनि प्रभु बानी। पूछेउ नाथ मोहि का जानी॥…ते तुम्ह सकल लोकपति साईं। पूछेहु मोहि मनुज की नाईं॥'* (३। १३) [अगस्त्यजीने मुसकुराकर जनाया कि मैं आपको जानता हूँ, पर आपके भजनके प्रतापसे ही। *'ऊमरि तरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया॥ जीव चराचर जंतु समाना। भीतर बसहिं न जानहिं आना॥ ते फल भच्छक कठिन कराला। तव भय डरत सदा सोउ काला॥ ते तुम्ह सकल लोकपति साईं।'* यहाँतक ऐश्वर्य कहकर तब उन्होंने कहा कि *'पूछेहु मोहि मनुज की नाईं।'* अर्थात् आप मनुष्य नहीं हैं, पर मुझसे इस तरह पूछ रहे हैं मानो मनुष्य ही हैं, सो मैं आपके माधुर्यमें भूलनेका नहीं। वैसे ही यहाँ श्रीपार्वतीजी मुसकुराकर जनाती हैं कि मैं आपको जानती हूँ। आप वह हैं कि *'जासु अंस उपजहिं गुन खानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥ भृकुटि बिलास जासु जग होई।'* (१। १४८) तथा *'आदि सक्ति जेहि जग उपजाया।'* (१५२। ४) अतः मैं आपके माधुर्यमें भूलनेकी नहीं। इस मुसकुरानेमें गूढ़ व्यङ्ग है]

नोट—३ *'मूरति मुसुकानी'* के और भाव—मुसकायीं कि वाह! जनककिशोरी! तुम्हारा इस दर्जेका प्रेम है कि मुझे पाषाणविग्रहरूप छोड़ प्रकट ही होना पड़ा। (मा० त० वि०) (ख) मूर्ति इत्यादिमें दूरसे ही स्तुति-प्रणाम आदि करनेकी रीति है। पर जानकीजी इतनी प्रेमोन्मग्ना हो गयीं कि साक्षात् समझकर प्रतिमाहीको मेरे चरण (मान) थाम लिये हैं। अतः धन्य हैं, मुझे बड़प्पन देनेवाली हैं। (मा० त० वि०) (ग) प्रेमवश हो जानेसे मेरी तो यह दशा हुई कि अनिच्छित माला खसक पड़ी और मूर्तिमें ही मुसकुरा उठीं, निरी प्रतिमा बनी न रही, पर सीताजीने मुझे प्रसन्न जान मालाको प्रसाद समझ धारण कर लिया। अतः प्रसन्न हुईं। अथवा, (घ) मुसकुरायीं कि देखो अभी तो विवाह-हेतु विह्वल हैं, पर भविष्यपर कुछ दृष्टि नहीं है कि शुक-शुकीके शापवश इन्द्रादि देवताओंके द्वारा राजभङ्ग होनेपर एवं नारदशापके कारण आगे वियोग होना है और भृगुशापके बहाने पृथ्वीमें समाना है। (मा० त० वि०) (ङ) मुसकुरायीं कि नारदवचनकी परीक्षा भी मिल गयी तब भी इनको संतोष न हुआ, इसी तरह हम आशीर्वाद भी दे देंगी तो क्या संतोष होगा जबतक धनुष न टूटेगा? यह बालकपनका स्वभाव ही है। लग्नकी आतुरताका यह प्रभाव है, हमारी भी यही दशा थी।—माधुर्यलीला करुणारसमें यह भाव है। (वै०) (च) ऐश्वर्यलीला शान्तरसमें भाव यह है कि सर्वेश्वरी होकर ऐश्वर्य छिपाये हुए नरनाट्य करना चाहती हैं, इसलिये जैसी उनकी इच्छा है। वैसा ही करना मेरा कर्तव्य है। अथवा, भाव कि यह न जानना कि आपकी माधुर्यलीलामें मैं भूल गयी, मैं अपना पातिव्रत्य पावन करनेके लिये आपको पातिव्रत्यका वर देती हूँ। अपना सुहाग अचल करनेके लिये आपको सुहाग देती हूँ।—यह ऐश्वर्य माधुर्यलीला हास्यरसमें भाव है। (वै०) (छ) लगनका प्रभाव ऐसा ही होता है कि देखो राजकुमारका आगमन सुनकर पूजा छोड़ चली गयीं, जब इच्छाभर देख लिया तब पुनः पूजाकी सुध करके आयीं, अतः मुसुकानीं। यह भावमिश्रिता लीला शृङ्गाररसमें है। (वै०) (ज) अच्छा प्रसाद देनेके लिये प्रसन्न वचन कहनेवाली हैं, अतः हँसकर बोलीं। (पाँ०) (झ) हृदयमें तो पति पहले ही मान चुकी हो, अब वर क्या माँगती हो? (ञ) किसीका मत है कि हृदयमें जो मूर्ति है वह *'मुसुकानी'* न कि भवानी।

शंका—मूर्तिका हँसना अमंगल है?

समाधान—श्रीजानकीजीके प्रेमसे श्रीपार्वतीजीकी मूर्ति प्रकट हो गयी, इसीसे आगे गौरीजीका बोलना लिखते हैं, यथा—*'सुनु सिय सत्य असीस हमारी।…'* इत्यादि। यदि गिरिजाजी प्रकट न हुई होतीं तो वार्ता कैसे करतीं

और जब प्रकट हुईं तब मुसकानेमें कोई अशकुन नहीं है। पाषाणकी मूर्तिका मुसकाना अशकुन माना जाता है; यथा—'**गर्जन्ति कूपाः प्रतिमा हसन्ति तद्देशनाशो मुनयो वदन्ति।**' पर यहाँ तो मूर्तिमें आवेश हो गया है।

नोट—४ फूल-माला जो मूर्तिपरसे गिरकर अपनी ओर आवे वह देवताकी प्रसन्नताको सूचित करनेवाला प्रसाद कहा गया है। दक्षिणमें भी यह परिपाटी देखनेमें आती है। पाँड़ेजी भी लिखते हैं कि देवतासे फूल गिरना मनोरथकी सिद्धिके लिये शुभ है। नंगे परमहंसजी लिखते हैं कि 'मूर्तिका हँसना जो अशुभ माना गया है, वह हँसना ठठाकेका होना है जिसमें शब्द होता है। मूल पाठ मुसुकराना है, मुसुकराना होठोंसे होता है जो शुभ माना गया है।'

☞देवता प्रकट होकर प्रसाद दें, बोलें, आशीर्वाद दें, पूजा लें तो यह माङ्गलिक है, अमङ्गल नहीं। देखिये, श्रीसीतारामविवाहके अवसरपर देवताओंने प्रकट होकर ऐसा किया है। यथा—'***आचारु करि गुर गौरि गनपति मुदित बिप्र पुजावहीं। सुर प्रगटि पूजा लेहिं देहिं असीस अति सुख पावहीं॥***' (३२३) श्रीनाभाजीके भक्तमाल तथा प्रियादासजीकी भक्तिरसबोधनी टीकामें प्रतिमाओंका साक्षात् प्रकट होकर हँसना, बोलना, चलना, प्रसाद देना इत्यादि बहुत-से भक्तोंके सम्बन्धमें देखा-सुना कहा गया है। मानसमें भी देवताओंका प्रकट होना कई जगह वर्णन किया गया है। इस विषयमें शंकाएँ व्यर्थ हैं और उसके समाधान भी व्यर्थ हैं। तथापि जो मुसुकाना अशुभ मानें उनके लिये एक समाधान यह है कि उसीका फल यह हुआ कि '***दसरथ सुकृत राम धरे देही***' सो उनको वनवास हुआ और '***जनक सुकृत मूरति बैदेही***' सो मिथिलासे श्रीअवधको चली गयीं इत्यादि।

☞इस प्रसङ्गपर गीतावली पद ७२ को दृष्टिमें रखनेसे अनेकों व्यर्थकी शंकाएँ मिट जाती हैं।—'***पूजि पारबती भले भाय पाँय परिकै। सजल सुलोचन, सिथिल तनु पुलकित, आवै न बचन, मन रह्यो प्रेम भरि-कै॥ अंतरजामिनि भवभामिनि स्वामिनिसों हौं, कही चाहौं बात, मातु अंत तौ हौं लरिकै। मूरति कृपालु मंजु माल दै बोलत भई, पूजो मन कामना भावतो बरु बरिकै॥ राम कामतरु पाइ, बेलि ज्यों बौंड़ी बनाइ, माँग-कोषि तोषि-पोषि, फैलि-फूलि-फरिकै। रहौगी, कहौगी तब, साँची कही अंबा सिय, गहे पाँय द्वै, उठाय, माथे हाथ धरिकै॥ मुदित असीस सुनि, सीस नाइ पुनि पुनि, बिदा भई देवीसों जननि डर डरिकै। हरषीं सहेली, भयो भावतो, गावतीं गीत, गवनी भवन तुलसीस-हियो हरिकै॥***' (१—४)

**सादर सिय प्रसाद सिर[1] धरेऊ। बोली गौरि हरषु हिय भरेऊ[2]॥६॥**
**सुनु सिय सत्य असीस हमारी। पूजिहि मनकामना तुम्हारी॥७॥**
**नारद बचन सदा सुचि साँचा। सो बरु मिलिहि जाहि मनु राँचा॥८॥**

अर्थ—श्रीसीताजीने आदरपूर्वक (माला) प्रसाद सिरपर धारण कर लिया (माला पहन ली)। गौरीजीका हृदय हर्षसे भर गया और वे बोलीं॥ ६॥ हे सीते! हमारी सच्ची आशिषा सुनो। तुम्हारी मनोकामना पूरी होगी॥ ७॥ नारदजीका वचन सदा पवित्र और सत्य है। जिस वरमें तुम्हारा मन रँग (अनुरक्त हो) गया है, वह वर तुमको अवश्य मिलेगा॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) '***सादर***' इति। देवताके प्रसादका आदर करना चाहिये, इसीसे '***सादर***' पद दिया, (हाथोंसे लेकर शिरोधार्य करना ही '***सादर***' धारण करना है। प्रसाद शिरोधार्य करके लिया ही जाता है।) यथा—'***फिरती बार मोहि जो देवा। सो प्रसाद मैं सिर धरि लेवा॥***' देवतापर पुष्पादि चढ़ावे और उसमेंसे कुछ अपनी ओर आ पड़े तो जानना चाहिये कि देवताने प्रसन्नता प्रकट की है और यह प्रसाद दिया है। इसीसे 'माला' को प्रसाद कहा और इसीसे उसका सादर धारण करना कहा। पंजाबीजी लिखते हैं कि चढ़ायी हुई माला उमाके सिरसे सीताजीकी ओर गिर पड़ी और रा० प्र० का मत है कि 'पार्वतीजीने माला सीताजीके हाथमें गिरा दिया। वे हाथोंसे चरण पकड़े थीं, इससे हाथपर माला गिरा दी और उन्होंने उसे उठाकर सिरपर धारण

१. सिर—१६६१, १७२१, १७६२, छ०, को० रा०। उर—१७०४ (पर रा० प्र० में 'सिर' है)।
२. १६६१में 'धरेउ' और 'भवेउ' पाठ है।